



आरोग्य—प्राथमिक आवश्यकता

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

श्रीभगवत्पाद शंकराचार्यजीने कहा है कि 'पुत्र-मित्र-कलत्र आदिका सुख जन्म-जन्ममें प्राप्त हो सकता है; परंतु मनुष्यत्व, पुरुषत्व और विवेककी प्राप्ति नहीं होती'—

पुत्रमित्रकलत्रादिसुखं जन्मनि जन्मनि।

मर्त्यत्वं पुरुषत्वं च विवेकश्च न लभ्यते॥

ऋषियों और मनीषियोंका मानना है कि मनुष्यका जन्म—जन्मान्तरोंमें किये गये पुण्यका परिणाम होता है। पूर्वकृत सुकृतके बिना मर्त्यत्व अर्थात् मनुष्यत्व प्राप्त नहीं हो सकता। नाना योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव पत्नी, पुत्र और मित्र आदिसे प्राप्त होनेवाले सुखका सम्भागी बन सकता है। नाना कष्ट भोगनेकी स्थितिवाली योनिमें रहकर भी ऐसे सुखको वह प्राप्त कर सकता है; परंतु कष्टोंसे वह मुक्त नहीं हो सकता अर्थात् नाना योनियोंमें स्वकर्मके अनुसार उसे भ्रमण करना ही पड़ता है; वह जन्म-मरणके दुर्धर चक्रसे बच नहीं सकता।

मनुष्य-जन्मकी सर्वश्रेष्ठताके विषयमें आध्यात्मिक या पारमार्थिक विश्वास रखनेवाले लोगोंमें ही नहीं, तद्भिन्न प्रकृतिवाले लोगोंमें भी कोई संदेह नहीं है। सब लोग यह स्वीकार करते हैं कि अन्य सभी जीव-जन्तुओंसे मानव सर्वथा उच्च है और वह सब प्रकारसे अपनी उन्नति कर सकता है। वह अपनी बुद्धिशक्तिका उपयोग करके अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकता है।

लौकिक दृष्टिसे हो या आध्यात्मिक दृष्टिसे अपने लक्ष्यकी साधनाके लिये अथवा गन्तव्यतक पहुँचनेके लिये मनुष्यको स्वस्थ मन और स्वस्थ शरीरकी नितान्त आवश्यकता है। मानसिक स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य अनेक संदर्भोंमें एक-दूसरेके पूरक होते हैं। अतएव जिस भाँति मनको अपने वशमें रखना अवश्यम्भावी होता है, उसी भाँति शरीरको भी नियन्त्रित रखना आवश्यक होता है।

यह माना गया है कि मनुष्यका यह जन्म यथानिर्दिष्ट धर्म-परिपालनके द्वारा परमात्मा किंवा परमपदको प्राप्त

करनेके लिये है। धर्मके अनुसार चलनेसे इहलोक तथा परलोकमें सुखकी स्थिति होगी। धर्मकी अवहेलना करनेसे कष्ट भोगना पड़ेगा। धर्मका साधन शरीर है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—यह उक्ति तो सुपरिचित है।

तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थचतुष्टय (धर्मार्थकाममोक्ष)—की सिद्धि तभी होती है, जब मनुष्य अपने शरीरको स्वस्थ और शुचि रखकर सही पथपर अग्रसर होता है। चार पुरुषार्थ जो बताये गये हैं, उनमें वास्तविक पुरुषार्थ मोक्ष है। दुर्लभ मनुष्य-जन्मकी प्राप्ति होनेसे मोक्षकी साधनामें लगे रहना चाहिये, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवत्पादजीने कहा है—

यावन्नाश्रयते रोगो यावन्नाश्रयते जरा।

यावन्न धीर्विपर्येति यावन्मृत्युं न पश्यति॥

तावदेव नरः स्वस्थः सारग्रहणतत्परः।

विवेकी प्रययेताशु भवबन्धविमुक्तये॥

अर्थात् मनुष्य कबतक स्वस्थ है? जबतक रोग उसके पास नहीं पहुँचते, जबतक वृद्धावस्थाका उसपर आक्रमण नहीं होता और जबतक वह मृत्युको नहीं देखता। अतएव उसे विवेकी और सारग्रहण-तत्पर होना चाहिये तथा भवबन्धनसे विमुक्ति पानेके लिये शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये।

आरोग्यके अभावमें लौकिक दृष्टिसे भी मनुष्य वाञ्छित सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव आरोग्यकी रक्षा हमारी प्राथमिक आवश्यकता है। मनुष्य अपने स्वास्थ्यकी रक्षा करते हुए अपने जीवनको सुखमय बनाये, इस दृष्टिसे ही आयुर्वेदका प्रणयन हुआ है। भगवान्ने धन्वन्तरिके अवताररूपमें इस जगत्का कल्याण किया है और देवलोकमें देवताओंके कल्याणार्थ अश्विनीकुमार हैं।

यज्ञ, दान, जप-तप आदि क्रियाएँ सुचारुरूपसे सम्पन्न करनेके लिये दैहिक स्वास्थ्य या नीरोगताकी अपेक्षा सब लोग करते हैं। देहपर ममता नहीं होनी चाहिये,

यह बात ठीक है। पर अस्वस्थताकी अवस्थामें कोई कार्य सम्पन्न भी नहीं हो सकता। इसलिये हमारे पूर्वजोंने सदाचारकी शिक्षा दी है। धर्मशास्त्रादि ग्रन्थोंमें ऐसी अनेक बातें बतायी गयी हैं, जिनके अनुसार चलनेसे मनुष्य शारीरिक दृष्टिसे स्वस्थ रह सकता है, बौद्धिक दृष्टिसे प्रगति कर सकता है तथा आध्यात्मिक पथपर अग्रसर होकर पुरुषार्थकी साधना कर सकता है।

ब्राह्ममुहूर्तमें उठ करके शौचादिसे निवृत्त हो स्नान करनेसे, संध्योपासना और भगवद्वर्चना या पूजा-पाठ करनेसे शरीरको नवोन्मेष मिलता है तथा आगेके दैनिक कार्यक्रम सुगमतासे करनेका उत्साह प्रवृद्ध होता है। यह केवल आचारकी ही बात नहीं है, लौकिक कार्योंमें सफलता पानेके लिये भी इस प्रकारका अभ्यास अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे भी सूर्योदयके पूर्व उठकर दैनिक कार्योंमें लग जाना सही मार्ग ही माना जाता है। मानव-शरीरमें एक सद्गुण यह है कि आप जिस तरहसे अभ्यास करेंगे, उसी तरहसे वह अपना दायित्व निभायेगा। आहार-सेवनके विषयमें भी यह बात सही कही जा सकती है।

बुद्धिमान् व्यक्तिको ज्ञात है कि हम जिस प्रकारका भोजन करते हैं, उस प्रकार हमारा जीवन चलता है और शरीरका स्वास्थ्य भी तदनुसार होता है। बात तो यह है कि हम भोजनके लिये जीवित नहीं, जीवित हैं इसलिये भोजन करते हैं। सात्त्विक आहारके सेवनसे सात्त्विकताकी वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्यकी भी रक्षा होती है। ऐसा व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक साधनामें सफल हो सकता है। भगवान्ने गीता (६।१७)-में कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति भोजनादिके विषयमें नियन्त्रित मनवाला होता है, उसमें सात्त्विक प्रवृत्तिके कारण विवेकका जागरण होता है। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि क्या सात्त्विक प्रवृत्तिके व्यक्तिको रोग नहीं होता? उत्तर यह है कि वह यौगिक चिकित्सासे अपने रोगको दूर करनेका यत्न करता है। संसारमें प्रायः कोई ऐसा व्यक्ति

नहीं है जो जीवनभर पूर्णतः रोगमुक्त रहा हो। बड़े-बड़े लोगोंको भी, महात्माओंको भी कभी कोई-न-कोई रोग हो जाता है। मनुष्यको शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगना ही पड़ता है—‘अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्’। रोगके दो कारण माने गये हैं—(१) पूर्व-कर्मका परिणाम, जिसको प्रारब्ध कहा जाता है और (२) आहारादि-दोष अथवा कुपथ्य। कहा भी गया है—‘जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते’। अतएव प्रथम कारणका निराकरण नहीं किया जा सकता। भोगसे ही प्रारब्धका क्षय होता है। दूसरा कारण जो बताया गया है उसका निवारण सम्भव है। इसीलिये तो आयुर्वेदादि चिकित्सा-पद्धतियाँ हैं। नीरोगताके लिये शारीरिक व्यायाम, शुद्ध जल-हवा आदिकी भी आवश्यकता है।

शरीरको व्याधिग्रस्त नहीं होने देना चाहिये। पथ्य और औषधसेवन यथोचित रीतिसे करने चाहिये। कहा भी गया है कि ऋणशेष, अग्निशेष और व्याधिशेषको नहीं रहने देना चाहिये; क्योंकि शेष रहनेसे उनकी वृद्धि होती है, जिससे वे हमारे लिये हानिकर होती हैं—

ऋणशेषं चाग्निशेषं व्याधिशेषं तथैव च।

पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत्॥

सत्संकल्प और ईश्वरप्रणिधानादिसे भी आरोग्यलाभ होता है। जब हम किसी भी शुभ कार्यका आरम्भ करते हैं तब संकल्पमें ‘आयुरारोग्यादि’ की सिद्धिकी बात करते हैं। आरोग्य तो सर्वथा वाञ्छित है। नवधा भक्तिमें पादसेवन, अर्चन, वन्दन और दास्यके जो प्रकार बताये गये हैं, उनसे हमको दोहरे लाभ होते हैं। ये शारीरिक क्रियासे सम्बन्धित होनेके कारण इनसे शारीरिक व्यायाम होता है और इष्टदेवकी करुणाके हम पात्र बन जाते हैं। हमारे परमगुरु श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन चन्द्रशेखर भारती महाराजजी कहा करते थे कि भगवान्के मन्दिरमें प्रदक्षिणा करनेसे शारीरिक व्यायाम तथा पारमार्थिक प्रयोजन दोनोंकी सिद्धि सम्भव है।

यह देखा गया है और अनुभवसिद्ध बात है कि केवल औषधियोंसे ही आरोग्यलाभ नहीं होता। चिकित्सकके प्रयत्नके साथ ईश्वरानुग्रह भी रहे तो शीघ्र ही सफलता

मिलती हैं। सच तो यह है कि ईश्वरानुग्रहके बिना 'अमृत' बनाओ।'

कोई भी कार्य सफल नहीं होता। श्रद्धालु भक्तोंकी दृष्टिमें गङ्गाजल ही औषध है और नारायण ही वैद्य हैं। कहा गया है—

शरीरे जर्जरीभूते व्याधिग्रस्ते कलेवरे ।

औषधं जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः ॥

संसारमें बार-बार जन्म लेना, अनेक कष्टोंको भोगना, नाना रोगोंका शिकार बनना—ये सब तो वात्याचक्र हैं। इनसे बचनेका एकमात्र उपाय है परमार्थके पथपर अग्रसर होना। अतः परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये। कहा गया है कि परमेश्वर भवरोगके वैद्य हैं। श्रीरुद्राध्यायमें उनको ‘भिषक्’ कहा है—‘अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्’। इसलिये उनसे हम प्रार्थना करते हैं कि ‘हे त्र्यम्बक वेदरूप पुण्यदाता परमेश्वर! मृत्युके पाशसे हमको बचाओ, जन्म-मरणसे हमको मुक्त करो और हमको

भगवान्के नाममें महत्तर शक्ति है। श्रद्धा-भक्तिसमन्वित चित्तसे हरि, शिव ऐसे दो अक्षर भी कहें तो भवबन्धनसे मुक्त हो सकते हैं। 'स्कन्दपुराण' में कहा गया है—

शिवेति द्व्यक्षरं नाम त्रायते महतो भयात्।

‘शिव’ शब्द तो वेदसार है। शंकरसंहितामें कहा है—

सर्वासामपि विद्यानामुत्कृष्टा श्रुतिरुच्यते ।

चतुर्णामपि वेदानां यजुर्वेदो विशिष्यते ॥

यजुर्वेदे चतुष्काण्डः श्रीरुद्रस्तत्र तत्र च।

नमः सोमाय चेत्यत्र वरा पञ्चाक्षरी मता ॥

तन्मध्ये जीवरत्नं स्याच्छिव इत्यक्षरद्वयम्॥

इस सारतत्त्वको ग्रहणकर लोग आरोग्यकी रक्षा करते हुए तथा धर्मका भी अनुसरण करते हुए परम पुरुषार्थको प्राप्त कर धन्य होवें।



आयुर्वेदके प्रवर्तक आचार्य तथा आयुर्वेद-परम्परामें चरक

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

भारतीय सनातन वैदिक परम्परा मूलतः आध्यात्मिक रही है, किंतु वह एक ओर जहाँ अपनी अखण्ड तथा परमपूत साधनाके द्वारा साध्यभूत मोक्षमूलक पारमार्थिक किंवा आमुष्मिक सत्यताका सतत अनुसंधान करती रही है, वहीं यह साधनपक्षके प्रति भी गम्भीर रही है। कहीं भी साध्यकी अपेक्षा साधनकी उपेक्षा नहीं की गयी है। यहाँ आदिकालसे ही साध्य एवं साधन—दोनोंमें पूर्ण संतुलन बना रहा है। इसीलिये सर्वधर्म तथा सर्वविद्याधिष्ठान वेदोंका प्राधान्य स्वीकार करते हुए भी वेदाङ्गों और उपवेदोंको भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। यहाँ धनुर्वेद हो या स्थापत्यवेद, गान्धर्ववेद हो या आयुर्वेद—सभी समान महत्त्वके हैं। फिर भी ऐहिक किंवा पारलौकिक फलोंके प्राप्त्यर्थ करणीय प्रयत्नोंके साधनभूत मानव-शरीर, जिसके बिना कोई भी धर्म, नियम निभने असम्भव हैं, की रक्षाके एकमात्र साधन आयुर्वेद है, जिसपर वेदोंके संहिता-कालसे ही गम्भीर विचार होते आये हैं; क्योंकि ये आयुर्वेदिक

सिद्धान्त वेदमूलक हैं। इनके द्वारा प्राणिजगत्की आयु-रक्षा, वृद्धि एवं सुखकी प्राप्ति होती है।

आयुर्वेद नामसे विख्यात यह जीवन-रक्षा-शास्त्र पुरुषार्थचतुष्टयसे साक्षात् सम्बद्ध है। इसके अन्तर्गत अधिकारी, विषय, सम्बन्ध एवं प्रयोजन-प्रभृतिका सम्यक् विधान भी है। अतः लौकिक और अलौकिक—इन उभयविध मान्यताओंके संधिबिन्दुपर विद्यमान आयुर्वेदशास्त्र त्रिकालाबाधित, व्यावहारिक तथा जीवन्त भारतीय दर्शन है, जिसके बिना मानव-जीवन और उसके लक्ष्य अधूरे हैं। यह भारतीय भावभूमिसे सीधे सम्बद्ध भारतीय मनीषाकी अप्रतिमताका जाण्वल्यमान प्रमाण है, जिसके अन्तर्गत न केवल मानव, अपितु समूचे जड़-चेतनात्मक विश्वकी प्रकृति, स्थिति, उसके आचार, उपयोग, परिवर्तन और परिणाम-सम्बन्धी नियमों—सिद्धान्तोंका चूडान्त निदर्शन है। यह ऐतिहासिकताके अखण्ड काल-प्रवाहके निकषपर खरीसिद्ध, सर्वथा लाभकारी विश्वकी सर्वप्राचीन चिन्तन-पद्धति है, जिसके तपःपूत चिन्तक

जो कुछ भी हो, किंतु आचार्य चरकने विश्वके हितहेतु जो अमूल्य रत्न प्रदान किये हैं, वे त्रिकालाबाधित हैं और रहेंगे। उनकी संहिता आयुर्वेद-ग्रन्थ-मणिमालाका सुमेरु है। इसके अन्तर्गत न केवल पूर्ववर्ती चिन्तकोंके अमूल्य चिन्तनोंका समन्वय है, अपितु यह परवर्ती कृतियोंका प्रेरणास्त्रोत भी है। इसमें आठ स्थान, एक सौ

२-चरकसंहिताकी भूमिका पृ० २५।

आचार्य चरकके अनुसार वायु, जल, देश और कालके विकृत होनेपर समूची ओषधियाँ भी विकृत हो जाती हैं। इसलिये ऐसा होनेपर समूची सृष्टि रोगापन्न हो जाती है, किंतु उनसे मुक्तिके लिये ओषधिसेवन इत्यादिके अतिरिक्त चरकसंहितामें जिन उपायोंकी गणना करायी गयी है, उनमें सत्य बोलना, जीवमात्रपर दया करना, दान,

संस्कृतसहितविमानस्थान (३।२०)।

बलिवैश्वदेव, देवपूजा, सद्वृत्तपालन, शान्ति, आत्मरक्षा, कल्याणकारी गाँवों तथा नगरोंका सेवन, ब्रह्मचर्यपालन, ब्रह्मचारियोंकी सेवा, धर्मकथा, जितेन्द्रिय महर्षियोंकी सेवा, सात्त्विक, धार्मिक और वृद्धोंद्वारा प्रशंसित लोगोंकी संगति आदिका महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिनसे जीवनके भयंकर कालमें भी मनुष्यकी रक्षा हो सकती है; यथा—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषामनियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

(चरकसंहिता विमान ३।१६—१९)

चरकसंहिताके अन्तर्गत अग्निवेशकी शंकाओंका समाधान करते हुए भगवान् आत्रेयने कहा है कि वायु आदिकी विकृतिका मूल अधर्म होता है या उसका मूल कारण पूर्वजन्मकृत अपराध होता है, जिन्हें प्रज्ञापराध कहा जाता है। कहना न होगा कि इसी अधर्म—प्रज्ञापराधको आभ्यन्तर प्रदूषण कहते हैं और इसी प्रदूषणका नियन्त्रण वास्तविक पर्यावरण—प्रदूषण—निरोध कहा जायगा; क्योंकि एवंविध नियमनके अभावमें प्रदूषणकी वृद्धिको रोकना सम्भव नहीं है। संहिताकारका मत है कि गाँव, नगर, प्रान्त अथवा देशके प्रधान पुरुषोंद्वारा कृत अधर्म सामान्यजनानुकरणीय होता है, जिससे अधर्म बढ़ता जाता है और उसके प्रभाववश धर्म तिरोहित—सा हो जाता है। बादमें लुप्तधर्मियों एवं अधार्मिकोंका साथ देवगण भी छोड़ देते हैं। फलतः उन जनपदोंकी ऋतुएँ बिगड़ जाती हैं, वर्षा समयसे नहीं होती। वायु और पृथ्वी भी विकृत हो जाते हैं, जल सूख जाता है और ओषधियाँ अपने स्वाभाविक गुण छोड़ देती हैं।^१

इसी प्रकार आगे भी सर्वविध भूतादि आक्रमण,

युद्धमें मृत्यु एवं शापादिको प्रज्ञापराधके ही परिणाम बताते हुए महर्षि चरकने कहा है कि धर्मरहित जन गुरु, वृद्ध, ऋषि, सिद्ध और पूज्योंका तिरस्कार कर अनुचित आचरण करते हैं, जिससे पूज्योंके शापवश वे नष्ट हो जाते हैं। अधर्म वह तत्त्व है, जो श्रान्ति, आलस्य, संचय, परिग्रह और लोभका जनक है—‘लोभः पापस्य कारणम्’।

प्राचीन कालमें प्रज्ञापराध न होनेके कारण जनता सुखी तथा शान्त थी, किंतु कालक्रमसे अधर्मके वृद्धिवश लोभसे द्रोह, द्रोहसे झूठ, झूठसे काम—क्रोध, अहंकार, द्वेष, कटुता, अभिघात, भय, ताप, शोक, चिन्ता और उद्वेगकी प्रवृत्ति बढ़ती गयी। परिणामतः पञ्चमहाभूतोंके गुण नष्ट होने लगे और वायु, जल, देश एवं काल विकृत होकर व्याधिका सर्जन करने लगे।

ध्यातव्य है कि मनुष्यकी निश्चित तथा अनिश्चित आयुके लिये महर्षि आत्रेयने दैव और पुरुषकार (कर्तव्य)—को ही आधार माना है—

इहाग्निवेशभूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ।
दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम्॥

(चरकसंहिता विमान ३।३०)

दैव और पुरुषकारका निर्धारण करते हुए उनका कहना है कि—

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम्।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्॥

(चरकसंहिता विमान ३।३१)

अर्थात् पूर्व जन्ममें कृत कर्म दैव और वर्तमान जन्ममें अपने द्वारा कृत कर्म पुरुषकार या पुरुषार्थ समझना चाहिये। आगे भी कहा गया है—

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा॥

(चरकसंहिता विमान ३।३३)

अर्थात् दैव और पुरुषार्थ—इन दोनोंका संयोग सुख और दीर्घ आयुको प्रदान करनेवाला तथा हीन संयोग

अल्पसुख, अल्पायुका विधायक होता है।

विचारणीय है कि 'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' के अनुसार जो स्थिति व्यक्तिके लिये होती है, वही समष्टिके लिये भी होती है। अतः यदि अधर्मका विनाश अर्थात् प्रज्ञापराधका त्याग एवं धर्मका पालन किया जाय तो व्यक्ति, प्रान्त, देश किंवा विश्व सुखी हो जायगा तथा यह समूची सृष्टि अनन्त कालतक अमर रहेगी, अन्यथा विनष्ट हो जायगी।

इन सारे तथ्योंपर ध्यान देते हुए चरकसंहिताकार कहीं लंघन, पाचन और दोषावसेचनसे लाभका विधान करते हैं तो कहीं अचिकित्स्य पुरुषके लक्षण तथा वैद्यका कर्तव्य बताते हैं एवं साथ-साथ निवास-योग्य देशके लक्षणोंका निर्देश भी करते हैं। इनके अनुसार अहितकारी, कटुभाषी, निन्दक, अधर्मी, क्रोधी और परछिद्रान्वेषी व्यक्तिकी दवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैव और पुरुषकार—दोनों दृष्टियोंसे अपराधी है। वह अधर्मके परिणामस्वरूप रोगी है और आज भी अधर्ममें लिप्त है।

इसी प्रकार जांगल, अनूप और साधारण देशोंका वर्गीकरण भी आचार्यने किया है, जिसमें पर्यावरणका विशेष ध्यान रखा गया है। जल, वनस्पति, वात, भूमि और ऋतु आदिको अधिक महत्त्व दिया गया है, जिससे चरकसंहिताकी महत्ता तथा लोकप्रियता अनुदिन बढ़ती जा रही है।

इस प्रकार निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि ऋषिवर्य चरक अद्भुत प्रतिभाके धनी थे ही, साथ ही वे प्रकाण्ड वैयाकरण, सफल पर्यावरणशास्त्री, निष्णात दैवज्ञ, विलक्षण राष्ट्रप्रेमी, अभूतपूर्व प्रकृतिप्रेमी, अद्वितीय लोकहितचिन्तक तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाके परम धनाढ्य महापुरुष थे। वे विश्वकी रक्षाके लिये प्रभुद्वारा प्रदत्त वरदान थे और थे धन्वन्तरीय सिद्धान्तोंके ध्वजवाहक विद्वद्धुरीण आचार्य। यह सृष्टि यावच्चन्द्रदिवाकरौ क्रान्तदर्शी ऋषि चरकके प्रति कृतज्ञ रहेगी। अतः मैं भी महामुनि चरकको प्रणाम करते हुए और उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ—‘महामुनिं तं चरकं नमामि।’



आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धतिकी दार्शनिक आधारशिला

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

१-आयुर्वेद—श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके अनुसार श्रीमन्नारायण परब्रह्मस्वरूप हैं। उनके नाभिकमलसे स्फुरित स्वयंभू ब्रह्माजी शब्दब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्माजीके पूर्वमुखसे ऋग्वेद और आयुर्वेदकी अभिव्यक्ति मान्य है। अतएव आयुर्वेदको ऋग्वेदीय उपवेद माना गया है। पुष्टिकर्मान्तर्गत आयुर्वेद होनेसे आयुर्वेदजगत्में आयुर्वेदको अथर्ववेदीय माननेकी प्रथा प्रसिद्ध है। ‘भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति’ (मनुस्मृति १२।१७)-के अनुसार जो कुछ त्रिकालगर्भित वेद्य है, वह वेदप्रतिपाद्य है। आयुके स्वरूप, आयुकी रक्षा और वृद्धि एवं स्वस्थ जीवनसे सम्बद्ध वेदविज्ञान ‘आयुर्वेद’ है। जो आयुका वेद हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं ‘आयुषो वेदः आयुर्वेदः’। आयु, धारि, जीवित, नित्यग और अनुबन्ध पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर, इन्द्रिय, प्राणान्तःकरण और आत्माके संयोग (सहस्थिति)-को आयु कहते हैं—

आ० अं० ४—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥

(च० सं० सूत्र० १।४२)

वेदोंका अर्थ वेदमूलक, विज्ञान, विचार, तदर्थ और उपलब्धि है। 'विद् विचारणे-विन्दते, विद्-सत्तायाम्-विद्यते, विद्लृलाभे-विन्दति विन्दते वा।' जिसमें आयुके स्वरूप, अन्त-हेतुपर विचार किया गया है तथा जो आयुके अपघातक रोगोंका निवारक तथा सर्वहितप्रद सुखद जीवनका आधारक है, वह आयुर्वेद है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।

मानं च तच्च यत्रोक्तमायर्वेदः स उच्यते ॥

(च० सं० सूत्र० १।४१)

योगी आयु और भोगपर संयमके द्वारा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

२-आयःप्रभेद— दर्शनशास्त्रोंमें आयुके स्वरूपभूत और

जो चिकित्सक प्रत्येक आतुरकी परीक्षा करके देश, कालके अनुसार इन औषधियोंके योग (मिश्रण)-को जानता है, उसे उत्तम चिकित्सक कहा जाता है—

योगमासां तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम् ।

पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः ॥

(च०सं० सूत्र० १।१२३)

६-आयुर्वेद-प्रयोजन—‘स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकारप्रशमनं च’—स्वस्थके स्वास्थ्यकी रक्षा और रोगीके विकारका प्रशमन चिकित्साशास्त्रके द्विविध प्रयोजन हैं।

७-आहारमीमांसा—अतिभोजन और अधिक अनशन जीवनका घातक है। इसी अभिप्रायसे भगवद्गीताका वचन है—‘नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः’। (६।१६)। भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य, चोष्य और पेय—षड्विध आहार हैं। चर्व्यका भक्ष्यमें अन्तर्भाव कर लेनेपर पञ्चविध आहार होते हैं। पेयका भोज्यमें अन्तर्भाव कर लेनेपर चतुर्विध आहार होते हैं। भात-दाल आदि भोज्य हैं। लड्डू, पूरी, रोटी आदि भक्ष्य हैं। चूड़ा, चना आदि चर्व्य हैं। चटनी आदि लेह्य हैं। आम, ईख आदि चोष्य हैं। शर्बत, शिकंजी, दूध आदि पेय हैं। इन सबका सम्मिलित नाम **आहार** है।

उक्त चतुर्विध, पञ्चविध और षड्विध आहारमें पार्थिव, जलीय और तैजस अंशका समावेश है। पार्थिव भोजन भूख-निवारक और बलाघायक है। अदाहप्रद और तैजसप्राय उष्णभोजन अग्निवर्धक तथा बलप्रदायक है। अग्रिमान्द्यमें अविनियुक्त जलीय भोजन और जलका सेवन तृप्तिकारक एवं प्राणपोषक है। भूखनिवृत्ति, पुष्टि और तुष्टि भोजनके ये तीन प्रयोजन हैं।

पार्थिव और अग्निवर्धक उष्ण है, अतएव आग्नेय भोजनके द्वारा उदरका आधा भाग, जल और पेय पदार्थोंके द्वारा उदरका चौथाई भाग भरना चाहिये। शेष चौथाई भाग वायुके लिये रिक्त छोड़ देना चाहिये।

तैत्तिरीयोपनिषत्-सम्मत पञ्चीकरणप्रक्रिया और छान्दोग्योपनिषत्-सम्मत त्रिवृत्करणप्रक्रियाका शास्त्रसम्मत सामञ्जस्य इस प्रकार है। पैङ्गलोपनिषत् और त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्के अनुसार 'वाक्' आकाशीय है। अपञ्चीकृत आकाशके चौथाई रजोंऽशसे वाक् नामक कर्मेन्द्रियकी अभिव्यक्ति होती है। वाक्से शब्दोच्चारण भी वाक्को शब्दगुणक आकाशीय सिद्ध करता है। परंतु

‘तेजोमयी वाक्’ (छा०उ० ६।५।४) इस छान्दोग्यश्रुतिसे वाक्की तेजोमयता भी सिद्ध है। वाक्के अधिदैव पैङ्गलोपनिषदादिने अग्रिको स्वीकार किया है। इस दृष्टिसे वाक्की तेजोमयता भी सिद्ध है। आकाशीय भोजनका अभाव होनेसे भी आहार-प्रसंगमें वाक्की तेजोमयता सिद्ध है। तैजस सुवर्णभस्मादि और तैजसप्राय दुग्धादिके सेवनसे वाक्की बलवत्ता अनुभवसिद्ध है।

प्राणकी वायुरूपता स्पर्शगुणयुक्तताके कारण है। यह तथ्य श्रुति-स्मृतिसिद्ध है। आहारप्रसंगमें 'आपोमयः प्राणः' (छा०उ० ६।५।४) कहकर श्रुतिने प्राणकी आपोमयताका प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वायुका अन्तर्भाव जलमें श्रुतियोंको अभीष्ट है।

उक्त रीतिसे पार्थिव भोजनके द्वारा कर्मेन्द्रियोंमें पार्थिव गुदा, ज्ञानेन्द्रियोंमें पार्थिव घ्राण, अन्तःकरणमें पार्थिव अहंकार, प्राणोंमें पार्थिव प्राणका पोषण होता है। मलकी निष्पत्ति भी पार्थिव भोजनसे होती है। इसके अतिरिक्त सप्त-धातुओंमें मांस और मेदका पार्थिव भोजनसे पोषण होता है। जलपान और जलीय भोजनके द्वारा कर्मेन्द्रियोंमें वायव्य हाथ और जलीय उपस्थ, ज्ञानेन्द्रियोंमें वायव्य त्वक् और जलीय रसना, अन्तःकरणोंमें वायव्य मन और जलीय चित्त तथा प्राणोंमें वायव्य व्यान और जलीय अपानका पोषण होता है, साथ ही मूत्रादिकी निष्पत्ति होती है। सप्तधातुओंमें जलपान और जलीय भोजनसे रस और रक्तका पोषण होता है। तैजस और तैजसप्राय भोजन करनेपर कर्मेन्द्रियोंमें आकाशीय वाक्, आग्नेय पाद (पाँव)-का, ज्ञानेन्द्रियोंमें आकाशीय श्रोत्र और आग्नेय नेत्रका, अन्तःकरणोंमें आकाशीय ज्ञातृत्व और आग्नेयी बुद्धिका तथा प्राणोंमें आकाशीय समान और आग्नेय उदानका पोषण होता है। तैजस और तैजसप्राय भोजनसे सप्तधातुओंमें मज्जा और अस्थिका पोषण होता है। पार्थिव, जलीय और तैजस—तीनों प्रकारके आहार शक्रनामक सप्तम धातुके उत्पादक और पोषक हैं।

निसर्गसिद्ध जन्मलब्ध योग्यताके बलपर मरुस्थल, समुद्र और भूतलके विविध प्राणी बिना जलके प्राणयुक्त, बिना अन्नके मनोयुक्त और बिना तैजस आहारके वायुयुक्त द्रष्टिगोचर होते हैं। त्रिवृत्करणकी प्रक्रियाके अनुसार

एकके सेवनसे शेषकी पूर्ति निसर्गसिद्ध योग्यताके बलपर सिद्ध है—

तच्च नित्यं प्रयुञ्जीत स्वास्थ्यं येनानुवर्तते।

अजातानां विकाराणामनुत्पत्तिकरं च यत्॥

(च० सं० सूत्र० ५।१३)

‘जिस पदार्थके सेवनसे स्वास्थ्यकी अनुवृत्ति हो अर्थात् स्वास्थ्य बना रहे और जो आहार-विहार अजात (अनुत्पन्न) विकारोंको न होने दे, उनका नित्य सेवन करना चाहिये।’

भौतिक जगत्में पृथ्वी, जल, तेज एक-दूसरेसे संश्लिष्ट हैं। किसी भी वस्तुका स्थूल विभाग पृथ्वीकी प्रधानतासे सम्भव है। किसी भी वस्तुका सूक्ष्म विभाग जलकी प्रधानतासे सम्भव है। किसी भी वस्तुका अति-सूक्ष्म विभाग तेजकी प्रधानतासे सम्भव है। पञ्चीकरणकी प्रक्रियामें किसी भी वस्तुके स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और कारणसंज्ञक पञ्चविभाग अभीष्ट हैं।

जो अग्नि है, वह पृथ्वी है। जो द्रव है, वह जल है। जो उष्ण है, वह तेज है। जो संचारयुक्त है, वह वायु है। जो सुषिर (सच्छिद्र) है, वह आकाश है। धारण पृथ्वीका कार्य है। पिण्डीकरण जलका कार्य है। प्रकाशन तेजका कार्य है। अवकाशप्रदान आकाशका कार्य है।

सेवित आहारसे मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय नामक षड्विध रस निष्पन्न होते हैं। रससे ‘शोणित’, शोणितसे ‘मांस’ और मांससे ‘मेद’ बनता है। मेदसे ‘स्नायु’की उत्पत्ति होती है। स्नायुसे ‘अस्थि’का उद्भव होता है। अस्थिसे ‘मज्जा’की उत्पत्ति होती है। मज्जासे ‘शुक्र’का उद्भव होता है। स्त्रीनिष्ठ द्वितीय धातु शोणित और पुरुषनिष्ठ सप्तम धातु शुक्रके साहचर्यसे संतानोत्पत्ति सम्भव है।

आहारसारसर्वस्व शुक्र है। अपने उस शुक्रकी रक्षा करनी चाहिये। कारण यह है कि शुक्रक्षयसे विविध रोगोंकी अथवा मरणकी भी सम्प्राप्ति सम्भव है—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।

क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान्मरणं वा नियच्छति॥

(च०सं० नि० ६।९)

८-चिकित्सा और चिकित्सक-कर्म—शरीरमें विषम हुए सप्तधातुओंकी समता-सम्पादक विविध क्रिया चिकित्सा है। विविध धातुओंको सम करना चिकित्सकोंका कर्म है—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।

सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्विषजां स्मृतम्॥

(च० सं० सूत्र० १६।३४)

शरीरमें धातुओंकी विषमता न होने देना और सप्तधातुओंका शरीरानुबन्ध (देहसम्बन्ध) बनाये रखना चिकित्साकर्मका उद्देश्य है—

कथं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।

समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रिया॥

(च०सं० सूत्र० १६।३५)

धातुवैषम्यके कारणोंको रोकना और धातुसाम्य-सम्पादक पदार्थोंका सेवन करना स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है—

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।

विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः॥

(च०सं० सूत्र० १६।३६)

जिन कारणोंसे धातु विषम होते हों उनका त्याग करनेसे और जिनसे धातु सम होते हों उनके निरन्तर सेवन करनेसे विषम धातुओंकी निरन्तर उत्पत्तिका नाश हो जाता है। फलतः शरीरमें सभी धातुएँ संतुलित मात्रारूप समावस्थामें विद्यमान होती हैं।

देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, अग्निविरुद्ध, मात्राविरुद्ध (समानमात्रामें मधु और घृत), सात्म्य (स्वभावके अनुकूल)-विरुद्ध, वातादिविरुद्ध, संस्कारविरुद्ध, शीत-उष्णवीर्य-विरुद्ध, कोष्ठविरुद्ध, अवस्थाविरुद्ध, क्रमविरुद्ध (अत्यन्त भूख लगनेपर भोजन, मलमूत्र विसर्जनके बिना भोजन), परिहारविरुद्ध (गरिष्ठ आहारके बाद उष्णवीर्य पदार्थका सेवन), उपचारविरुद्ध (घृतादि स्निग्ध वस्तुके सेवनके अनन्तर शीतल जलसेवन), पाकविरुद्ध (अपक्व, अतिपक्व, दृष्ट दारुसे पकाया भोजन), संयोगविरुद्ध (दुग्धके साथ अम्लरसका सेवन), हृदयविरुद्ध (अरुचिकर), सम्पद्विरुद्ध (विकृत, अपूर्ण, शुष्करस) और विधिविरुद्ध (दोषदृष्टियुक्त व्यक्तियोंके सम्मुख आहार) अहितकर होनेसे त्याज्य होते हैं—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

यच्चापि देशकालाग्निमात्रासात्म्यानिलादिभिः ।

संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि ॥

परिहारोपचाराभ्यां पाक्वात् संयोगतोऽपि च ।

विरुद्धं तच्च न हितं हृत्सम्पद्विधिभिश्च यत्॥

(च० सं० सू० २६।८६-८७)

उत्तम चिकित्सक देश-कालादिविरुद्ध आहारसे रोगीको दूर रखते हैं। स्वास्थ्यलाभकी इच्छावाले स्वयं ही देश-कालादिविरुद्ध आहारका सेवन नहीं करते।

९-चिकित्साके चार चरण—सभी प्रकारके विकारों (रोगों)–की शान्तिके लिये गुणवान् चिकित्सक, गुणयुक्त औषधयुक्त द्रव्य, गुणसम्पन्न उपस्थाता (परिचायक) एवं गुणवान् रोगीका होना परमावश्यक है—

भिषग्द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।

गुणवत्कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥

(च० सं० सू० १।३)

१०-चिकित्सा—धातुओंके विकृत अर्थात् व्यक्तिके रोगी हो जानेपर प्रशस्त वैद्य (गुणवान् वैद्य) आदि चारों पादों (वैद्य, द्रव्य, परिचारक और रोगी)—की धातुओंको समान करनेके लिये जो क्रिया की जाती है, उसे चिकित्सा कहते हैं—

चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातुवैकृते ।

प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥

(च० सं० सू० ९।५)

वात, पित्त, कफ तथा रस, रक्त आदि सप्तधातुओंकी विकृति (विषम अवस्थामें स्थिति)-को विकार कहते हैं। वातादि त्रिविध दोषों तथा रसादि सप्तधातुओंकी समावस्थाको प्रकृति कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें आरोग्य (नीरोगता)-की सुख और विकृति (विकार)-की दुःख संज्ञा है।

विकारो धातवैषम्यं साम्यं प्रकतिरुच्यते ।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥

(च० सं० स० ९।४)

१०-शुद्ध चिकित्सा—वाग्भटके अनुसार जो चिकित्सा दोषका शमनकर उसे साम्यावस्थामें ले आये अर्थात् रोगका शमन कर दे तथा अन्य रोग और दोषको उत्पन्न न करे वह शुद्ध चिकित्सा है—

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।

नाऽसौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत् ॥

(अष्टाङ्गहृदय सूत्र० १३।१६)

जो प्राप्त रोग-दोषका निवारण न कर सके और विविध रोग-दोषोंको उत्पन्न भी कर दे, वह तो चिकित्साके नामपर प्राणघातक प्रयोग ही है।

१२-चिकित्सकके चार गुण—शास्त्रका सर्वतोमुखी ज्ञान, चिकित्सा-कर्मका बार-बार प्रत्यक्ष परिज्ञान, दक्षता और पवित्रता—ये चिकित्सकके चार गुण हैं—

श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।

दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं वैद्ये गुणचतुष्टयम् ॥

(च० सं० सू० ९।६)

उत्तम चिकित्सक बननेके इच्छुक व्यक्तिको चिकित्सा तथा तत्सम्बन्धित शास्त्रोंमें, उसके अर्थ भलीभाँति समझनेमें, शास्त्रीय विधियोंकी प्रवृत्तिमें और औषधि-निर्माण, पञ्चकर्मादि, प्रयोगादिरूप चार विधियोंमें प्रवृत्त वैद्यको 'प्राणाभिसर' कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने ।

भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते ॥

(च० सं० सू० ९।१८)

निदानरूप हेतुमें, लक्षणरूप लिङ्गमें, रोगोंको शान्त करनेमें और पुनः उत्पन्न न होने देनेमें जो पूर्ण बोध रखता है, वह सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक ही 'राजवैद्य' कहा जाता है—

हेतौ लिङ्गे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे ।

ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः ॥

(च० सं० सू० ९।१९)

१३-स्वस्थके लक्षण—जिसके जीवनमें दोष, अग्नि, धातु, मलक्रिया सम हों तथा जो निर्मल शरीर, प्रसन्न इन्द्रिय और मनसे सम्पन्न हो, वह स्वस्थ है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

(सु० सं० सू० १५।४०)

१४-स्वास्थ्यप्रद उत्तम वैद्यके लक्षण— शस्त्र, शास्त्र और सलिल (जल) अपने गुण और दोषकी प्रवृत्तिके लिये पात्र (प्रयोक्ता और बरतन)–की अपेक्षा रखते हैं।

अतः चिकित्साकर्ममें प्रवृत्त होनेके पूर्व चिकित्सक अपनी प्रज्ञाको प्रशस्त रखे—

शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये ।

पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत् ॥

(च० सं० सू० ९।२०)

विद्या (अपने विषयका ज्ञान), वितर्क, विज्ञान (प्रयोगविधिकी जानकारी), स्मृति, तत्परता और चिकित्सारूप क्रिया—ये छः गुण जिस चिकित्सकमें होते हैं, वह सभी साध्य रोगोंकी चिकित्सामें सफल होता है—

विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया ।

यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते ॥

(च० सं० सू० ९।२१)

विद्या, मति, कर्मदृष्टि (चिकित्साकर्मके प्रति एकाग्रता), अभ्यास, सिद्धि (चिकित्सामें सफलतादि) और विशेषज्ञका समाश्रय—इन छः गुणोंमेंसे प्रत्येक गुण मनुष्यको योग्य वैद्य बनानेके लिये पर्याप्त है, यानी समर्थ है।

विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः ।

वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यतः ॥

(च० सं० सू० ९।२२)

जिसमें उक्त विद्यादि सभी शुभ गुण होते हैं, वह वैद्य शब्दकी योग्यताका निर्वाह करता हुआ प्राणिमात्रको सुख देनेवाला होता है—

यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः ।

स वैद्यशब्दं सद्भूतमहन् प्राणिसुखप्रदः ॥

(च० सं० सू० ९।२३)

वस्तुमात्रको प्रकाशित करनेके लिये शास्त्र ज्योतिःस्वरूप है और अपनी शुद्ध बुद्धि दृष्टि (नेत्र)—रूप है। शास्त्र और बुद्धिसे सम्पन्न वैद्य चिकित्सा करता हुआ अपराध (भूल) नहीं कर सकता—

शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।

ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन् नापराध्यति ॥

(च० सं० सू० ९।२४)

मैत्री, रोगीके प्रति कारुण्य, साध्य और संयमी रोगीमें प्रीति, असाध्य और असंयमी रोगीकी उपेक्षा—ये चतुर्विध वैद्यवृत्तियाँ हैं।

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।

प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥

(च० सं० सू० ९।२६)

उत्तम चिकित्सक प्रज्ञा और प्राणशक्तिसे सम्पन्न होते हैं तथा प्राणशक्ति और प्रज्ञाके विशेषज्ञ होते हैं। यही कारण है कि चिकित्सकको वैद्य, कविराज और प्राणाचार्य कहा जाता है। उन्हें सप्तधातुमय शरीरका और शरीरान्तर्गत नाडियोंका भी सम्यक्-ज्ञान होता है। स्थूल शरीरमें सूक्ष्म शरीरकी और सूक्ष्म शरीरमें कारण शरीरकी अभिव्यञ्जकता बनी रहे, कारण शरीर जीवका अभिव्यञ्जक बना रहे, जीव शिवसंज्ञक सर्वेश्वरसे तादात्म्यापत्ति लाभ कर सके, इन तथ्योंके जानकार वैद्य ब्रह्मातुल्य पूज्य हैं।

स्थूलदेहगत वात, पित्त और कफके स्वरूप, स्वभाव, प्रभाव तथा इनके शमनके उपायोंका मर्मज्ञ वैद्यको होना चाहिये। सप्तधातुकी विकृति, संस्कृति आदिका विज्ञान भी वैद्यके लिये आवश्यक है। पृथ्वी और पार्थिव द्रव्योंका, जल और जलीय पदार्थोंका, तेज और तैजस तत्त्वोंका तथा वायु और वायव्य वस्तुओंका परिज्ञाता एवं इनके साधर्म्य-वैधर्म्यके विज्ञाता उत्तम वैद्य हैं।

१५-चिकित्साकी दार्शनिक आधारशिला—रोग और स्वास्थ्यका आश्रय स्थूल, सूक्ष्म, कारण—त्रिविध शरीरोंसे युक्त जीवसंज्ञक आत्मा है। कार्यकारणसंघातरूप शरीर, कर्ता-भोक्ता जीव, कारणात्मक सूक्ष्म शरीर, कारणगत विविध चेष्टा तथा प्रारब्ध या अनुग्राहक देवरूप दैव—ये रोग और स्वास्थ्यके पञ्चविध हेतु हैं। आत्मा निर्विकार है। शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरणके आध्यासिक योगसे उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व है। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषद् १।३।४)।

वात, पित्त, कफजन्य शरीर-रोगोंकी प्राप्ति होती है। रजोगुण और तमोगुणके कारण काम, क्रोध और लोभादिसंज्ञक मानस रोगोंकी प्राप्ति होती है—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

(चरक० सू० १।५७)

वायु स्वयं देव हैं अथवा वायुके देव सूर्य हैं। पित्तके

देव अग्नि हैं। कफके देव सोम हैं। सूर्य, अग्नि और सोमके कुपित होनेसे रोगोंकी और प्रसन्न होनेसे स्वास्थ्यकी सिद्धि सम्भव है। चोट लगनेसे जो व्रण-वेदनादिकी प्राप्ति होती है, वह आघातज रोग है। आघातज रोग त्वगादि स्थूल शरीरान्तर्गत धातुओंको दोषयुक्त बनाता है। पञ्चभूतोंमें आकाश पृथिव्यादि भूतचतुष्टयका धारक है। पृथ्वी और जलके योगसे कफ बनता है। तेजके योगसे पित्त बनता है। वायु स्वयं वात है। पञ्चभूत और पञ्चीकरणकी प्रक्रिया तैत्तिरीयोपनिषत्के अनुसार है। छान्दोग्योपनिषत्के अनुसार अन्न (पृथ्वी), अप् (जल) और तेजोरूप त्रिभूतसे त्रिवृत्करणकी प्रक्रिया सधती है। अन्नमें आकाशका अन्तर्भाव होता है। पृथ्वी और आकाश दोनों धारक हैं। जलमें सोम और वायुका अन्तर्भाव होता है। सोम और जल दोनों ही शीतल हैं। जलका तरंगायित रहना, प्रवाहयुक्त रहना वायुयोगसे सम्भव है। लोकमें जलवायुका युगवत् प्रयोग भी उक्त तथ्यको सिद्ध करता है। तेजमें अग्नि और सूर्यका अन्तर्भाव है। इस प्रकार कफ, वात और पित्त—अन्न, जल और तेजःक्रमसे सिद्ध हैं।

बार-बार भीगते रहनेपर वायुरोगकी प्राप्ति भी जल और वायुकी तादात्म्यापत्तिको सिद्ध करती है। वायुरोगकी घनता व्यक्तिको अजगर-सरीखा अन्न (पृथ्वी)—वत् जडप्राय बना देती है। इस प्रकार जलवायु और पृथ्वीकी एकरूपता भी कालक्रमसे सध जाती है।

छान्दोग्योपनिषत्के छठे अध्यायमें अन्नको कृष्ण, जलको श्वेत और तेजको रक्तवर्ण माना गया है। वायुरोगकी घनता व्यक्तिको अन्नसंज्ञक पृथ्वीतुल्य कृष्ण बना देती है। कफ श्वेत और पित्त रक्तवर्णका होता है।

दर्शनप्रस्थानमें सत्त्व, रजस् और तमस् त्रिगुण हैं। त्रिगुणकी साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृतिकार्य आकाशादि कार्यप्रपञ्च विकृति है। चिकित्साप्रस्थानमें वात, पित्त, कफरूप त्रिधातुकी साम्यावस्था तथा तत्सम्भव स्वास्थ्य और सुख प्रकृति है। त्रिधातुकी विषमावस्था एवं तत्सम्भव रोग और दुःख विकृति है।

दोनों प्रस्थानोंमें सामञ्जस्य इस प्रकार है—

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी पञ्चभूत हैं। शरीर पाञ्चभौतिक है। आकाश और तेज सत्त्वप्रधान है। वायु और जल रजःप्रधान है। पृथ्वी तमःप्रधाना है। वायुके योगसे वात, तेजके योगसे पित्त और जल तथा पृथ्वीके योगसे कफकी सिद्धि सम्भव है।

विकारः प्रकृतिश्चैव द्वयं सर्वं समासतः।

तद्धेतुवशगं हेतोरभावान्ानुवर्तते॥

(च० सं० नि० ८।४१)

चरकसंहिताने निज, आगन्तुक और मानस—त्रिविध रोग माना है। वातज, पित्तज और कफज रोगोंको निज कहा गया है। अग्निदाह, आघात, विषाक्त भोजनादिसेवन और भूतावेशादिक आगन्तुक माने गये हैं। इष्टकी अप्राप्ति और इष्टनिवृत्ति तथा अनिष्टसम्प्राप्तिसम्भव वेदनाको मानस माना गया है। चन्दनमें सुगन्धि स्वाभाविक है। मलिन द्रव्यके संसर्गसे दुर्गन्धि है। आगन्तुक दुर्गन्धिका निवारण कर देनेपर स्वभावसिद्ध सुगन्धि अभिव्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार स्वास्थ्य आत्मपरम्परा सिद्ध होनेसे स्वाभाविक है। रोग अविद्या, काम, कर्मपरम्परा सिद्ध होनेसे आगन्तुक है। आगन्तुक रोगकी निवृत्तिसे स्वतःसिद्ध स्वास्थ्यकी अभिव्यक्ति सम्भव है।

वेदान्तप्रस्थानमें स्थूल, सूक्ष्म शरीर और संसारकी पाञ्चभौतिकता सिद्ध है। आकाश, वायु, तेज, बल और पृथ्वीके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। मनसे संकल्प, बुद्धिसे निश्चय, चित्तसे स्मरण, अहंसे गर्व और अन्तःकरणसे ज्ञातृत्व निष्पन्न होता है।

उत्तम चिकित्सक उपयुक्त पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, उपयुक्त गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द तथा उपयुक्त संकल्प, निश्चय, स्मरण, गर्व और ज्ञातृत्वसे विविध रोगोंका निवारण करते हैं।

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।

वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

(चरक सं० चिकित्सा० १।४।६२)

‘प्राणिमात्रपर दया करना ही सर्वोत्तम धर्म है।’ ऐसा सोचकर जो वैद्य चिकित्सा-क्षेत्रमें प्रवृत्त होता है, वही सिद्धार्थ है, वही वास्तविक सुख और सुयशको प्राप्त करता है।



आयुर्वेदमें धर्म और दर्शन-संदर्भ

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

१. षड्दर्शनका आयुर्वेदमें महत्त्वपूर्ण स्थान— वेदोंका तात्पर्य धर्म और ब्रह्ममें संनिहित है। 'धर्म' यज्ञादिरूप होनेसे भाव अर्थात् अनुष्ठेय है। 'ब्रह्म' सच्चिदानन्दस्वरूप होनेसे भूत अर्थात् सिद्ध है। आयुर्वेद उपवेद होनेसे धर्म और ब्रह्ममूलक चिकित्सा-पद्धति है। यह जीवोंके पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, उत्क्रमण और अधोगतिको स्वीकार करनेवाली तथा वेदोंको प्रमाण माननेवाली और ईश्वरभक्तिका प्रतिपादन करनेवाली चिकित्सा-पद्धति है। यह वैशेषिकोंके द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायरूप षड्विध भावपदार्थोंको और नैयायिकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमानरूप चतुर्विध प्रमाणोंको तथा वादके चौवालीस प्रभेदोंको (च० सं० वि० ८) एवं सांख्योंके त्रिगुणात्मक प्रधान (अव्यक्त, प्रकृति) और महत्, अहम्, मन, दशविध इन्द्रिय तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसंज्ञक पञ्चतन्मात्राओंको एवं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वीसंज्ञक पञ्चमहाभूतरूप चतुर्विंशति अचित्-अनात्म-वस्तुओंको और अविक्रिय विज्ञानात्मा पुरुषसंज्ञक चिद्वस्तुको स्वीकार करनेवाली चिकित्सा-पद्धति है—

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।

हासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥

(च० सं० सूत्र० १।४४)

अर्थात् सदा सभी भावोंकी वृद्धि करनेवाला सामान्य होता है और हास (कम करनेवाले)-का कारण विशेष होता है। इस शास्त्रमें दोनोंकी प्रवृत्ति की जाती है अर्थात् इन दोनोंकी प्रवृत्ति (क्रिया)-से दोष, धातु एवं मलोंकी वृद्धि और हास किया जाता है।

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।

मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥

(च० सं० शारीरस्थान १।१७)

निरन्तरं नावयवः कश्चित् सूक्ष्मस्य चात्मनः ॥

(च० सं० सूत्र० ११।१०)

अर्थात् पुरुष धातुभेदसे २४ तत्त्वोंका माना जाता है।
ये २४ तत्त्व हैं—मन, दस इन्द्रियाँ; अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप,
रस तथा गन्ध और आठ धातुएँ—(१) अव्यक्त, (२)

महान्, (३) अहंकार, (४) आकाश, (५) वायु, (६) अग्नि, (७) जल तथा (८) पृथिवी तन्मात्राएँ इनसे युक्त प्रकृति।

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम्।

वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥

(च० सं० शारीरस्था० १।५)

आत्माको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष आत्माको (क्रियाशून्य) स्वतन्त्र, वशी (जितेन्द्रिय), सर्वत्र जानेवाला, व्यापक, क्षेत्रज्ञ (शरीरको भलीभाँति समझनेवाला), साक्षी (संसारमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओंको देखनेवाला) है, ऐसा कहते हैं। यहाँ 'तथा' शब्दसे आत्माको निर्विकार भी माना जाता है।

योगियोंके अष्टाङ्गयोग और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेशसंज्ञक पञ्चविध क्लेश, शुक्ल-कृष्ण-मिश्रसंज्ञक त्रिविध कर्म, सुख-दुःख-मोहसंज्ञक त्रिविध विपाक और अन्तःकरणनिष्ठ संस्कारसंज्ञक आशयसे अपरामृष्ट (नित्यमुक्त) पुरुषविशेषरूप सर्वेश्वरको स्वीकार करनेवाली चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद है।

आयुर्वेद वेदान्तशैलीमें देवताओंको विग्रहयुक्त तथा सर्वेश्वरको धन्वन्तरि-शिवादिरूपोंमें अवतारयुक्त माननेवाली एवं आत्माकी ब्रह्मरूपता और सर्वरूपताको स्वीकार करनेवाली चिकित्सा-पद्धति है। आयुर्वेद वैदिक प्रस्थानके अनुरूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयको माननेवाली चिकित्सा-पद्धति है।

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥

रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।

(च० सं० सूत्र० १।१५-१६)

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षका आरोग्य ही प्रधान कारण है। रोग उस सुखमय श्रेय और जीवनका अपहर्ता है।

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम् ।

मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः ॥

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते ।

सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे ॥

निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते ।

सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्वमुपजायते ॥

(च० सं० शारीरस्थान १। १३७—१४१)

—इनका भाव यह है कि योग और मोक्षमें सभी प्रकारकी वेदनाओंकी निवृत्ति हो जाती है। मोक्ष होनेपर वेदनाओंका समूल विनाश हो जाता है और योगद्वारा मानव मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है। अतएव योगको मोक्षका प्रवर्तक कहा गया है। आत्माका मनसे, मनका इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोंका अपने-अपने शब्द, स्पर्शादि विषयोंसे जब संयोग होता है, तब सुख तथा दुःखकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जब आत्मामें मन स्थिरभावसे रहता है, तब सुख-दुःखकी प्रतीति नहीं हो पाती। अतएव सुख-दुःखकी निवृत्ति हो जाती है तथा शरीरधारी पुरुष वशी हो जाता है। योगको जाननेवाले महर्षि इस स्थितिको 'योग' नामसे जानते हैं। दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना, दूसरेके मनकी बात जान लेना, सभी प्रकारके विषयोंको जान लेनेकी शक्ति, किसी भी कार्यमें स्वच्छन्द होकर प्रवृत्त होनेकी क्षमता, दृष्टिकी विशेष शक्ति, श्रवणकी विशेष शक्ति आदि—इस प्रकार योगियोंमें होनेवाले बलके आठ भेद होते हैं। इनकी समुपलब्धि शुद्ध सत्त्वकी सुस्थिर प्रतिष्ठासे सम्भव है।

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद् बलवत्कर्मसंक्षयात् ।
वियोगः सर्वसंयोगैरपुनर्भव उच्यते ॥

(च० सं० शारीरस्थान १।१४२)

अर्थात् रजोगुण और तमोगुणके अभाव हो जानेसे तथा पुनर्भवमें हेतुभूत कर्मोंका क्षय हो जानेसे और दुःख एवं दुःखहेतुओंके सर्वविध संयोगोंका वियोग मोक्षसंज्ञक अपनर्भवरूप योग कहा जाता है।

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते ।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥
सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः ।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया ॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ।
यया नालम्बते किञ्चित् सर्वं संन्यस्यते यया ॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरं शान्तमव्ययम् ।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मैथा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।
 परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥
 पश्यतः सर्वभावान् हि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
 ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥
 नात्मनः करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
 स सर्वकरणायोगान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥
 विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
 अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥

(च० सं० शारीरस्थान ५।१६-२३)

भाव यह है कि जिससे वह सर्वभावोंके स्वभावको जानता है, जिससे निःस्पृह रहता है, जिससे वह योगकी सिद्धि करता है, जिससे वह सांख्यतत्त्वका ज्ञानी हो जाता है, जिससे वह अहंकारको प्राप्त नहीं करता, जिससे वह जन्म-मरणरूप कारणोंकी उपासना नहीं करता, जिससे वह राग-द्वेषादि किसीका आश्रय नहीं लेता, जिससे वह सभी सांसारिक वस्तुओंका परित्याग कर देता है, जिससे नित्य-अजर-शान्त तथा अक्षरब्रह्मको प्राप्त किया जा सकता है, उसी सत्या बुद्धिको सिद्धि, मति, मेधा, प्रज्ञा और ज्ञान माना गया है। सम्पूर्ण संसारमें आत्माको विस्तृत और सम्पूर्ण संसारको अपनेमें देखनेवाले तत्त्वज्ञकी ज्ञानमूला शान्ति नष्ट नहीं होती। सदैव सब अवस्थाओंमें सभी शरीरगत भावोंको समानरूपसे देखते हुए ब्रह्मभूत जीवन्मुक्त अतएव शुद्धचित्त महापुरुषका देहेन्द्रियादिके साथ सम्बन्ध नहीं होता। अविक्रिय विज्ञानघनताके बोधसे लिङ्गविमुक्त 'जीवन्मुक्त' ऐसा कहा जाता है। विपाप, विरजस्, शान्त, पर, अक्षर, अव्यय, अमृत, ब्रह्म, निर्वाण और शान्ति—इन पर्यायोंद्वारा मोक्षका परिचय दिया जाता है।

२. आयुर्वेदमें पञ्चभूत, त्रिगुण और त्रिदोषका वेदान्तसम्मत प्रतिपादन—चरकने ‘सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकम्’ (च० सं०) ‘महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा’ (च० सं० शारीरस्थान १।२७) आदि वचनोंके अनुसार सभी द्रव्योंकी त्रिगुणमयता और पाञ्चभौतिकताका प्रतिपादन कर वात, पित्त, कफरूप त्रिधातुसंज्ञक त्रिदोषके साम्य और शमनका पथ प्रशस्त किया है।

वेदान्तप्रस्थानके अनुरूप ही चरकसंहिताने सूत्रस्थानान्तर्गत इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय ८ में इन्द्रियोंकी भौतिकता और मनकी इन्द्रियपरताका प्रतिपादन किया है। 'खं श्रोत्रे' (च०

सं० सूत्र० ८।१४) आदि वचनोंके अनुसार 'श्रोत्र' (कान) आकाशीय है, शब्दगुणग्राहक है, अतएव शब्दज्ञानमें हेतु है। 'त्वक्' वायव्य है, स्पर्शगुणग्राहक है, अतएव स्पर्शज्ञानमें हेतु है। 'नेत्र' तैजस हैं, रूपगुणग्राहक हैं, अतएव रूपज्ञानमें हेतु हैं। 'रसना' जलीय है, रसगुणकी ग्राहिका है, अतएव रसज्ञानमें हेतु है। 'घ्राण' पार्थिव है, गन्धगुणग्राहक है, अतएव गन्धज्ञानमें हेतु है।

उक्त रीतिसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं। 'ग्राह्य-ग्राहकभाव साजात्यमें होता है, वैजात्यमें नहीं।' इस नियमके अनुसार आकाशीय गोत्रसे आकाशीय शब्दग्रहण आदि उपयुक्त है। सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पाँव), उपस्थ (लिङ्ग) और वायु (गुदा) नामक पञ्चकर्मेन्द्रियाँ हैं। वाक्से आकाशीय शब्दका विसर्जन होता है। पाणिसे वायव्य स्पर्शका विसर्जनरूप प्रदान होता है। पादसे तैजस विसर्जनरूप गन्तव्यतक गमन होता है। उपस्थसे वारुणरस विसर्जनरूप रतिसम्पादन होता है। गुदासे पार्थिव गन्ध एवं गन्धयुक्त मलका विसर्जन होता है।

सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानसंज्ञक पञ्चप्राण प्रतिष्ठित हैं। मुख-नासिकाके मध्य तथा हृदय-नाभिमण्डल और पादाङ्गुष्ठ-प्राण स्थान हैं। गुदा-मेढ्र-ऊरु और जानु-अपान स्थान हैं। सर्वशरीरमें समान की स्थिति है। सर्वसंधियोंमें तथा पाँव-हाथमें उदानकी स्थिति है। श्रोत्र, ऊरु, कटि, गुल्फ, स्कन्ध और गलामें व्यानकी स्थिति है। प्राणसे उच्छ्वास, अपानसे श्रवण, समानसे समीकरण, उदानसे ग्रहण और व्यानसे उन्नयन सम्भव है। प्राणसे उच्छ्वास और समीकृत रसादिका पृथक्करण मान्य है। अपानसे श्रवण और मूत्रादि-विसर्जन मान्य है। उदानसे उद्गिरण और उन्नयन सम्भव है। समानसे शरीर-पोषण और समीकरण सम्भव है। व्यानसे प्राण-अपानादि चेष्टारूप ग्रहण सम्भव है।

नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जयसंज्ञक पञ्च उपप्राण हैं। उद्गारादि क्रिया-सम्पादन नागसे होता है। अक्ष्यादि-निमीलन कूर्मसे होता है। भूख-प्यास-सम्पादन कृकरसे सम्भव है। निद्रादिसम्पादन देवदत्तसे सम्भव है। मृत गात्रकी शोभादि धनञ्जयसे सम्भव है।

सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत अन्तःकरण (ज्ञातृत्व), मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्काररूप प्रत्यक्-करणोंके पञ्चप्रभेद

त्रिंशतिब्राह्मणोपनिषद्को मान्य हैं। अन्तःकरणसे ज्ञान, मनसे संकल्प, बुद्धिसे निश्चय, चित्तसे अनुसंधान और अहंकारसे अभिमानका सम्पादन सम्भव है। ज्ञातृत्व (अन्तःकरण), समानवायु, श्रोत्रेन्द्रिय, वागिन्द्रिय और शब्दगुणकी आकाशमें स्थिति है अर्थात् ये आकाशीय हैं। मन, व्यानवायु, त्वक्, हस्तेन्द्रिय तथा स्पर्शकी वायुमें स्थिति है, अर्थात् ये वायव्य हैं। बुद्धि, उदानवायु, चक्षु और पाद तथा रूप अग्निमें स्थित हैं अर्थात् ये तैजस हैं। चित्त, अपानवायु, जिह्वा, उपस्थ तथा रसकी जलमें स्थिति है अर्थात् ये वारुण हैं। अहंकार, प्राणवायु, घ्राण, गुदा और गन्धगुण पृथिवीमें स्थित हैं, अर्थात् ये पार्थिव हैं। आकाशीय समानवायुके अन्तर्गत कृकर नामक उपप्राण मान्य है। वायव्य व्यानान्तर्गत धनञ्जय नामक उपप्राण मान्य है। तैजस उदानमें देवदत्त नामक उपप्राणका अन्तर्भाव है। जलीय अपानमें कूर्म नामक उपप्राणका अन्तर्भाव है। पार्थिव प्राणान्तर्गत नाग नामक उपप्राण मान्य है।

इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पञ्चविषय हैं। ज्ञातृत्व, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये पञ्चविध अन्तःकरण हैं। ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसंधान और अभिमान—ये अन्तःकरण पञ्चकके पञ्चविध विषय हैं।

सुषुम्णा, इडा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, पयस्विनी, अलम्बुषा और कौशिकी आदि कन्दसमुद्भूता प्रमुख दस नाडियाँ हैं। गुदाके पृष्ठभागमें कन्दमध्यस्थ मूर्धापर्यन्त पद्मसूत्रसदृश वीणा-दण्डतुल्य ऋजु-विद्युद्वर्ण सुषुम्णा है। सुषुम्णाके वामभागमें वामनासापुटपर्यन्त इडा नामकी चन्द्रनाडी है। सुषुम्णाके दक्षिणभागमें दक्षिण नासापुटपर्यन्त पिङ्गला नामकी सूर्यनाडी है। चन्द्र और सूर्य कालके धारक हैं। सुषुम्णा कालभोक्त्री है। इडाके पृष्ठभागसे सव्य (वाम) नेत्रपर्यन्त गान्धारी है। वामपादाङ्गुष्ठपर्यन्त हस्तिजिह्वा है। पिङ्गलाके पृष्ठभागमें स्थित दक्षिण श्रोत्र और नेत्रपर्यन्त पूषा है। गान्धारी और सरस्वतीके मध्य पादाङ्गुष्ठसे याम्य (दक्षिण) कर्णान्त पयस्विनी है। पायुमूलसे नीचे और श्रोत्रपर्यन्त अलम्बुषा है। कन्दसे पादाङ्गुष्ठपर्यन्त कौशिकी है।

उक्त रीतिसे पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण, पञ्च उपप्राण और अन्तःकरण—इस पञ्चकका समुदाय सूक्ष्म शरीर है। काम और कर्मकी स्थिति सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत है।

पञ्चभूतोंमें पृथिवी और जलके योगसे कफकी निष्पत्ति होती है। तेजसे पित्तकी अभिव्यक्ति होती है। वायुकी विकृतिसे वायुरोगकी अभिव्यक्ति होती है। भूतचतुष्टयका आश्रय होनेसे देहगत आकाश कफ, पित्त और वात—इन तीनोंका आश्रय है। कफ और लोभका, पित्त और क्रोधका तथा वात और कामका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कारणशरीर अज्ञानात्मक है। आत्मबोधसे अज्ञाननिवृत्ति और स्वतःसिद्ध अक्षय आयुरूप आत्माकी निरावरण स्फूर्ति सम्भव है। धर्मानुष्ठान और देवाराधनके द्वारा सूक्ष्म शरीरगत काम-क्रोधादि आधिकी निवृत्ति सम्भव है। स्थूल शरीरगत कफ, पित्त और वातज व्याधियोंका शमन शुद्ध पृथ्वी, जल, तेज और वायुके सेवनसे सम्भव है।

३. कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्मादिका आयुर्वेदमें युक्तियुक्त प्रतिपादन—आयुर्वेदके अनुसार ऋतुम्भराप्रज्ञासम्पन्न महर्षियोंने ऋगादि वेदोंका अनुशीलन करके स्मृतियों तथा पुराण-महाभारतादि शास्त्रोंकी संरचना की है। प्रज्ञापराधके कारण वेदादि शास्त्रोंमें अनास्थाके वशीभूत व्यक्ति उनकी अवहेलना करके असत्कर्ममूलक अधर्माचरणमें संलिप्त रहता है। प्रज्ञापराध, असत्कर्म और अधर्माचरणके कारण वायु, जल, देश और कालमें विकृति सम्भव है। वायु तथा जलादिकी विकृति, रुग्णता, अराजकता, राष्ट्रकी विपन्नता, विखण्डता और सर्वनाशमें हेतु है। भ्रम, प्रमाद, आलस्य, काम, क्रोध, लोभ, भय तथा छल आदिके कारण सम्प्राप्त विवेकमें अनास्थादि दोषोंसे समाच्छादित बुद्धि प्रज्ञापराधका मूल है। ध्यान रहे; जरायुज, देव, नर, पशवादि तथा अण्डजादि पक्षी आदिके माता-पिता होते हैं; परंतु स्वेदज और उद्भिज्जोंके माता-पिता नहीं होते। अतएव माता-पिताके आत्मतत्त्वका संतानमें संचार मानना उपयुक्त नहीं। यही कारण है कि स्वलक्षण पञ्चभूतात्मक जड़ शरीर और चेतन आत्माके संयोग और वियोगमें जीवोंका कर्म ही हेतु है। आत्मा अनादि और चिद्रूप होनेसे नित्य है। अतएव उसकी परनिर्मिति (किसी अन्यसे संरचना) असम्भव है। हाँ, अज्ञ जीवोंके कर्मानुरूप चेतनविशिष्ट संघातरूप परमात्माद्वारा निर्मिति (परनिर्मिति) अभीष्ट ही है—

आत्मा मातुः पितुर्वा यः सोऽपत्यं यदि संचरेत्।
द्विविधं संचरेदात्मा सर्वो वाऽवयवेन वा॥

सर्वश्चेत् संचरेन्मातुः पितुर्वा मरणं भवेत्।
निरन्तरं नावयवः कश्चित् सूक्ष्मस्य चात्मनः॥
बुद्धिर्मनश्च निर्णीते यथैवात्मा तथैव ते।
येषां चैषा मतिस्तेषां योनिर्नास्ति चतुर्विधा॥
विद्यात् स्वाभाविकं षण्णां धातूनां यत् स्वलक्षणम्।
संयोगे च वियोगे च तेषां कर्मैव कारणम्॥
अनादेश्चेतनाधातोर्नेष्यते परनिर्मितिः।
पर आत्मा स चेद्धेतुरिष्टोऽस्तु परनिर्मितिः॥

(च०सं० सूत्र० ११।९—१३)

शरीर, वाक्, मनःप्रवृत्तिका नाम कर्म है—**कर्म वाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः**। (च० सूत्र० ११।३९)। इनका अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग रुग्णतामें तथा सम्यग्योग स्वास्थ्यमें हेतु है। विषयलोलुपताके वशीभूत होकर विषयोंका अतिसेवनरूप अतियोग पुष्टप्रज्ञा और प्राणशक्तिसे सम्पन्न पुष्टशरीररूप स्वास्थ्यका प्रत्यक्ष ही घातक है। वागादि इन्द्रियोंका काष्ठमौनादि अप्रयोगरूप अयोगमूकादि होनेमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है। भोजन, शयन, दर्शन, स्पर्शन, रसनादिका अयुक्त प्रयोगरूप मिथ्यायोग प्रज्ञाशक्ति और प्राणशक्तिसम्पन्न शरीरका प्रत्यक्ष ही घातक है।

पूर्वकर्म, कर्मगत वैचित्र्य, दुग्धपानादिमें नवजात शिशुकी प्रवृत्ति आदि युक्तियोंसे आयुर्वेदने पुनर्जन्म सिद्ध किया है।

ध्यान रहे—

पुण्यशब्दो विपापत्वात्मनोवाक्कायकर्मणाम्।
धर्मार्थकामान् पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च॥

(च० सं० सूत्र० ७।३०)

अर्थात् ‘मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मोंद्वारा निष्पाप पुरुष पुण्यवान् कहा जाता है। इस लोकमें सुखी रहता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामरूप त्रिवर्गका उपयोग करता है और जन्मान्तरके लिये पुण्योंका चयन करता है।’

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत्॥

(अष्टाङ्गहृदय सू० अ० २।२०)

‘सभी प्राणियोंकी सभी प्रवृत्तियाँ सुखके लिये होती हैं। सुख बिना धर्मके नहीं होता, इसलिये धर्मपरायण होना चाहिये।’



रोग और भैषज्य

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थचतुष्टयकी सिद्धिके लिये सर्वतोभावेन शरीरका स्वस्थ तथा नीरोग होना नितान्त आवश्यक होता है। रोगोंसे आक्रान्त शरीरके द्वारा कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता, यह निश्चित है। अभिप्राय यह है कि स्वस्थ शरीरके द्वारा ही धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान किया जा सकता है। धर्मपूर्वक या न्यायपूर्वक ही अर्थोपार्जन किया जाता है, धर्मपूर्वक ही अपनी विवाहिता धर्मपत्नीसे पुत्रोत्पन्न किया जाता है और धर्मपूर्वक अर्थात् धर्मका आचरण करते हुए ही योगादि—आध्यात्मिक मोक्ष-साधनाओंके द्वारा कैवल्य मोक्ष प्राप्त किया जाता है, जिसे अन्तिम पुरुषार्थ माना जाता है।

परंतु शास्त्रकारोंने हमारे इस शरीरको रोग-व्याधियोंका एक बड़ा भण्डारघर भी कहा है—‘शरीरं व्याधिमन्दिरम्’। बात भी सत्य है; क्योंकि मानव-शरीरके जन्मके साथ ही रोग और मृत्यु भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे पैदा हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे शरीरके जो उपादान कारण हैं, वे ही विकारी तथा अनित्य हैं। हमारा शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पाँच भूतों (तत्त्वों)—से बना है और माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये उन सब तत्त्वोंके गुण-धर्म आदिका शरीरमें होना स्वाभाविक है और उनके कार्योंमें व्यतिक्रम हो जानेपर शरीरमें विकार यानी रोग उत्पन्न होना भी स्वाभाविक ही है। परंतु केवल मनुष्य-शरीर ही रोगी बनते हैं, ऐसी बात नहीं है, पशु-पक्षी आदि सभीके शरीर रोगी बनते हैं।

परंतु एक बात यह है कि पशु आदि जीव बीमार पड़ जानेपर मनुष्यकी तरह इलाज कराने नहीं जाते, किंतु आहार ग्रहण करना छोड़ देते हैं, पूर्णतया उपवास करते हैं और सूर्यकी धूपमें पड़े रहते हैं। इससे वे शीघ्र स्वस्थ बन जाते हैं। इससे पता चलता है कि वे अज्ञात रूपसे मानो प्राकृतिक चिकित्सा ही कर लेते हैं। रोग-निवारण-हेतु आज विभिन्न प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियाँ हैं, जैसे एलोपैथी, होम्योपैथी, साइकोपैथी, यूनानी चिकित्सा, चुम्बक-चिकित्सा, नैचुरोपैथी तथा योग-चिकित्सा आदि-आदि। इन चिकित्सा-प्रणालियोंके द्वारा रोग-पीडित असंख्य नर-

नारी यथासम्भव आरोग्य-लाभ भी प्राप्त कर रहे हैं। भारतीय आर्ष आयुर्वेदिक पद्धतिकी सर्वातिशायिता, गुणवत्ता, महत्ता तथा आरोग्य-शक्तिसे सारा विश्व लाभान्वित होता रहा है, यह बात किसीसे छिपी नहीं है।

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र—आयुर्वेद प्राचीनसे प्राचीनतम है और वह वेदके साथ सम्बन्धित है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदोंके चार उपवेद भी हैं। जैसे—

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गन्धर्वश्चेति ते त्रयः ।

स्थापत्यवेदमपरमुपवेदश्चतुर्विधः ॥

आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और स्थापत्यवेद—ये चार उपाङ्ग यानी उपवेद हैं। इनमेंसे ऋग्वेदका उपवेद स्थापत्यवेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गन्धर्ववेद और अथर्ववेदका आयुर्वेद है। आयुर्वेद अथर्ववेदका उपवेद है इस बातका प्रमाण भी है। जैसे सुश्रुतसंहितामें कहा है—‘इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।’ (सुश्रुत० सू० अ० १। ३)। आयुका ज्ञान ही आयुर्वेद है अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन तथा आत्माका योग ही आयु है और इस आयु-सम्बन्धी प्रत्येक ज्ञेयविषयक ज्ञानको आयुर्वेद कहते हैं—‘आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेदः’। आयुर्वेद मनुष्यको कैसे प्राप्त हुआ है, इस बातको चरकसंहितामें कहा गया है—

ब्रह्मणा हि यथाप्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः ।

जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः ॥

अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपेदे ह केवलम् ।

ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत् ॥

(सूत्र० १।४-५)

अर्थात् जिस प्रकार सम्पूर्ण आयुर्वेदका उपदेश ब्रह्माजीने किया था, उसको उसी रूपमें ठीक-ठीक सर्वप्रथम दक्षप्रजापतिने ग्रहण किया। इसके पश्चात् दक्षप्रजापतिसे अश्विनीकुमारोंने, अश्विनीकुमारोंसे इन्द्रने और इन्द्रसे ऋषियोंके कहनेपर भरद्वाज मुनिने सम्पूर्ण आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया। तबसे भरद्वाज मुनिके द्वारा अन्य ऋषि-मुनियोंको आयुर्वेदका ज्ञान प्राप्त हुआ है। अतः आयुर्वेदकी चिकित्सा-प्रणाली लाखों-लाख वर्षोंकी अनुभूतिपर आधारित है।

बात पुरानी है। एक दिन जैमिनि मुनि अपने आश्रमके एक वृक्षके नीचे बैठे हुए थे। उसी वृक्षकी शाखापर बैठा एक पक्षी अचानक बोल पड़ा कि 'कोऽरुक्' अर्थात् नीरोग कौन है? जैमिनि मुनि पक्षीकी वाणी समझते थे, इसलिये उत्तरमें कहा कि 'हितभुक्'। जो हितकर, पुष्टिकर तथा अनुकूल आहार ग्रहण करता है। पक्षी पुनः बोल पड़ा कि 'कोऽरुक्'? मुनिने पुनः उत्तरमें कहा कि 'मितभुक्' जो परिमित आहार ग्रहण करनेवाला है। पक्षी पुनः बोल उठा कि 'कोऽरुक्'? जैमिनि मुनिने पुनः उसके उत्तरमें कहा— जो 'हितभुक्' और 'मितभुक्' है, वही स्वस्थ शरीरका आनन्द प्राप्त करता है अर्थात् जो व्यक्ति अपनी प्रकृतिके अनुकूल भोजन ग्रहण करता है और यथासमय परिमित भोजन करता है, वही स्वस्थ रहकर आनन्दमय दीर्घ जीवन व्यतीत कर सकता है।

हृदयरोग

दिलका दौरा पड़ना ही हृदयरोग है। हृदयरोग (Heart Disease) एक घातक रोग है, जो आज व्यापक रूपमें फैलता जा रहा है। इस रोगसे बचनेके लिये कुछ विशेष उपाय इस संदर्भमें प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

हमारा हृदय मांसपेशियोंसे निर्मित एक खोखला यन्त्र है। हृदयका अधिकांश भाग वक्षके वामभागमें अवस्थित रहता है। हृदय रसका स्थान है अतः दूषित रसके सम्पर्कसे हृदय या उसके अवयवोंमें विकृति होनेसे हृदयमें रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरके दूषित रक्तको लेकर फेफड़ेमें भेजना तथा वहाँ शोधित रक्तको फिर शरीरमें सर्वत्र प्रेषित करना हृदयका कार्य है। इस यन्त्रमें विकृतिके उत्पन्न होनेको ही हृदयरोग कहा जाता है। हमारे शरीरके अन्यान्य यन्त्रोंके समान हार्टकी मांसपेशियाँ भी शरीरके रक्त-स्रोतसे ही पुष्टि प्राप्त करती हैं। किसी कारणसे जब वही रक्त-स्रोत दूषित हो जाता है, तब हार्ट भी रोगग्रस्त बन जाता है। सामान्य रूपसे इसे हृदयरोग कहते हैं।

देशवासियो! आचार्य सुश्रुतका कहना है—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।

कुर्वन्ति हृदये बाधां हृद्रोगं तं प्रचक्षते॥

(सुश्रुत० उ० ४३।४)

अर्थात् अपने कारणोंसे कुपित हुए वात आदि दोष रसको दूषित करके (उसके आधार) हृदयमें उपस्थित होकर हृदयमें विकार उत्पन्न कर देते हैं, इसे हृद्रोग कहते हैं।

हृदयरोग होनेके अनेक कारण

हृदयरोग कई कारणोंसे होता है, जैसे बिलकुल परिश्रम न करना, मशीनकी तरह अत्यधिक परिश्रम करना, अधिक मात्रामें तीक्ष्ण भोजन करना, शक्तिसे अधिक दौड़ना तथा भय, चिन्ता, त्रास, विरेचन, अधिक वमन, अधिक मद्यपान एवं धूम्रपान करना, हृदयमें चोट लगना एवं सब समय मानसिक तनावमें रहना आदि। इनके अतिरिक्त जब हमारे शरीरके भीतर अत्यधिक दूषित पदार्थोंका संचय हो जाता है और उनके द्वारा हृदय आक्रान्त हो जाता है, तब हृदयरोग उत्पन्न हो जाता है।^१

१-व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः। छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि हृद्रोगकर्तृणि तथाऽभिघातः॥ (चरक० चि० २६।७६)

हृदयरोगके लक्षण

चरकसंहितामें^१ तीन प्रकारका हृदयरोग बताया गया है—वातज, पित्तज और कफज। इन तीनोंका पृथक्-पृथक् लक्षण भी बताया गया है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(१) वातज हृदयरोगका लक्षण—वायुसे होनेवाले हृदयरोगमें विशेषकर हृदयमें शून्यताका हो जाना, द्रवता तथा शुष्कता आदिका अनुभव होना, हृदयमें पीडाका होना, स्तम्भ और मोहका अनुभव होना वातज हृदयरोगका लक्षण है।

(२) पित्तज हृदयरोगका लक्षण—पित्तजन्य होनेवाले हृदयरोगमें आँखोंके सामने अन्धकार छा जाना, शरीरमें दाहका अनुभव होना—विशेषकर हृदयमें। मोह, त्रास तथा तापकी वृद्धि, ज्वर होना और शरीर पीला पड़ जाना आदि इसके लक्षण हैं।

(३) कफज हृदयरोगका लक्षण—कफसे होनेवाले हृदयरोगमें हृदय जकड़ा हुआ—सा, भारी तथा स्तिमित प्रतीत होता है। कण्ठकी नलीमें कफका जमा होना तथा ज्वर, कास और तन्द्रा आदिका होना इसका लक्षण है।

यदि उक्त सभी लक्षण एक साथ पाये जाते हों तो उसे 'संनिपातज हृद्रोग' कहा जाता है और यदि हृदय-देशमें कण्ठू और तीव्र वेदना हो तो उसे 'कृमिजन्य हृद्रोग' कहा जाता है।

हृदयरोग-निवारण

चरकने हृदयरोग-निवारणके लिये पूर्वकथित वातज, पित्तज और कफज—इन तीनोंके पृथक्-पृथक् औषध-प्रयोगका विधान बताया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु एक-एक रोगकी अनेकों औषधियाँ बतायी हैं। परंतु इस प्रसंगमें सबसे सरल और एक-एक औषधिका प्रयोग ही बतलाया जा रहा है—

(१) वातज हृदयरोगका निवारण—पुष्कर-मूल, बिजौरा नीबूका मूल, सोंठ, कचूर तथा हरड़—इन पाँचों द्रव्योंको समान भागमें लेकर कल्क बनाये। उस कल्कमें यवक्षार-जल या खट्टे अनारका रस, गोघृत और सेंधा नमक मिलाकर पिलाना चाहिये। इससे वातज हृदयरोग

तथा विकर्तिकरोग दूर होते हैं।^{१२}

(२) पित्तज हृदयरोगका निवारण—कशेरू, सेवार, अदरक, पुण्डरिया-काठ, मूलेठी, कमल-डण्डीकी गाँठ— इन द्रव्योंका सम्मिलित कल्क, गोदुग्ध और घृतको एकमें मिलाकर पाक करे और मधुके साथ इस कशेरुकादि घृतका सेवन करनेसे पित्तज हृदयरोग नष्ट हो जाता है।^३

(३) कफज हृदयरोगका निवारण—इस रोगके निवारणके लिये शिलाजीतका प्रयोग किया जाता है। परंतु शिलाजीतकी सेवन-विधि ‘चरकसंहिता’ के रसायनकल्पमें कथित नियमके अनुसार ही होनी चाहिये। क्योंकि ताम्र-शिलाजीत ही कफज हृदयरोगमें लाभकारी होता है। इसके अतिरिक्त च्यवनप्राश, अगस्त्य-हरीतकी लेह, ब्राह्मी रसायन और आमलकी रसायन जो अच्छे वैद्यके द्वारा निर्मित हों, उनका सेवन करना चाहिये।^४ इससे कफज तथा अन्य हृदयरोग भी समूल नष्ट हो जाते हैं।

परंतु ऐसा भी देखा गया है कि हार्टपर प्रभाव-विस्तारके लिये यौगिक आसनसे बढ़कर ऐसा कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः किसी दक्षयोगीसे हृदयरोग-सम्बन्धी यौगिक आसनोंको विधिपूर्वक सीख लेना चाहिये। परंतु यौगिक आसन स्वस्थ दशामें ही करना चाहिये। रोगकी प्रबल अवस्थामें नहीं; क्योंकि रोगकी उस अवस्थामें तो विश्राम ही एकमात्र उपाय है। स्वस्थ अवस्थामें हलका-हलका यौगिक आसन तथा सायं-प्रातः भ्रमण इस रोगके रोगीके लिये अनुकूल रहता है। इससे हार्ट क्रमशः सबल होता जाता है और उसका नया गठन होता है। रोगी अपनेको स्वस्थ अनुभव करने लगता है। कभी-कभी जलवायुका परिवर्तन करना भी इस रोगके रोगीके लिये हितकर रहता है। पर तीन हजार फीटसे अधिक ऊँचाईवाले स्थान रोगीके लिये अनुकूल नहीं हैं; क्योंकि इससे श्वास फूलने लगता है और श्वास लेनेमें कष्ट होता है। हृदयरोगके रोगीको अपना मानसिक संतुलन बनाये रखना चाहिये और धैर्य, शान्ति तथा आत्मविश्वासको भी सतत बनाये रखना चाहिये। इससे हृदयरोगसे छुटकारा मिल जाता है।



१-सूत्रस्थान १७।३०-४०, चिकित्सास्थान २६।७८-८०

२-सपुष्कराङ्गं फलपूरमूलं महौषधं शुंठ्यभया च कल्काः । क्षाराम्लसर्पिलवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्गोविकर्तिकाघ्नाः ॥ (चरक० चि० २६। ८३)

३-कशेरुकाशैवलशृङ्गवेरप्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य । ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेतैः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ॥ (चरक० चि० २६। ९३)

४-शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत् कल्पविधानदृष्टम् । प्राशं तथागस्त्यमथापि लेहं रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः ॥ (चरक० चि० २६।९८)

महारोग और उससे मुक्ति

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविठ्ठलेशजी महाराज)

देवक्या पालितो गर्भे लालितोऽङ्गे यशोदया ।

राधयाऽऽराधितो देवो गोपालो मे प्रसीदतु॥

अखिल ब्रह्माण्डनायक, भक्तजन-सुखदायक, सच्चिदानन्दमय, जगदीश, जगन्मय, परब्रह्म गोपाल श्रीकृष्णने निज क्रीडाके लिये जगत्की रचना की है। त्रैलोक्यमें सप्तद्वीपवती पृथ्वीमें जम्बूद्वीपके नव खण्डोंमें भरतखण्ड पुण्यमय है; क्योंकि इसमें नानारूपसे भगवान् अवतीर्ण हुए हैं तथा ऋषि-मुनियोंने जप, तप, स्वाध्याय, योग और समाधिद्वारा अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त करके आत्मोन्नति करते हुए परम पदकी प्राप्ति की है।

सभी श्रेयोंका साधक मानव-शरीर ही है तथा भगवत्प्रिय भी है। 'तासां मे पौरुषी प्रिया' (भागवत०)। इस नर-तनको पानेके लिये देवता भी लालायित रहते हैं। ऐसा सुदुर्लभ मनुष्य-जन्म अनेकों जन्म बीत जानेके बाद अन्तिम जन्ममें प्राप्त होता है। यह मानव-कलेवर अनित्य होकर भी पुरुषार्थोंका साधक होनेसे अन्य योनियोंसे श्रेष्ठ है। भगवान्की उपासना भी नर-तन-साध्य है। सात्त्विक, राजस तथा तामस कर्मोंकी विचित्रतासे ही देव, तिर्यक्, मनुष्य-योनिमें जन्म होता है। सत्त्वसे देव, सत्त्व एवं रजसे मनुष्य और तमोगुणसे तिर्यक्-योनिमें जन्म होता है। भगवत्प्राप्तिके लिये सत्कर्म मनुष्य-योनिमें उपयुक्त है।

इस मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर वर्णाश्रमानुकूल कर्मोंके करनेसे चित्त-शुद्धिद्वारा भागवतधर्ममें रुचि उत्पन्न होती है और तभी मानव आत्म-कल्याण करनेमें समर्थ होता है। इस मानव-शरीरकी स्थितिके लिये तीन वस्तुएँ अपेक्षित होती हैं—अन्न, जल तथा औषधि। अन्न एवं जल प्राणका आहार है। मिताहारी रहनेसे शरीर रोगग्रस्त नहीं होता। उदरके दो भाग अन्नसे, एक भाग जलसे तथा एक भाग वायुके संचरणसे पूर्ति करनेसे रोग पैदा नहीं होते। अधिक भोग भोगनेसे शरीर रुग्ण हो जाता है; क्योंकि रोग भोगपूर्वक होता है। बुद्धि भी अन्नपर आधारित है। सदन-सेवनसे सद्बुद्धि उत्पन्न होती है और सद्बुद्धिद्वारा सत्कर्म करनेसे सद्गतिकी प्राप्ति होती है। कदन्नके उपभोगसे कुबुद्धि उत्पन्न होती है और कुबुद्धिद्वारा कुकर्म करनेसे कुगतिकी प्राप्ति

होती है। अतः सात्त्विक आहार करना ही अभीष्ट है। दुःख, शोक तथा रोगसे बचनेके लिये सदन ही उपादेय है। अन्न एवं जलकी गड़बड़ीसे उत्पन्न रोगोंका निदान करनेके लिये औषधि-सेवनका विधान है। जिस देशका जो जन्तु है, उसके लिये उसी देशकी औषधि गुणकारी होती है। यह आयुर्वेदाचार्य महर्षि सुश्रुतका मत है। इस घोर कलिकालमें आयुर्वेदिक औषधियाँ लुप्त-गुप्त-सी होती जा रही हैं, यह नितान्त खेदकी बात है। आयुर्वेदमें नाडी-विज्ञान प्रमुख है, उसके बिना—रोगोंका कारण जाने बिना चिकित्सा अधूरी होती है। आजकल भौतिकवादका प्रबल प्रचार होता जा रहा है। इसलिये जड़ी-बूटी प्रभृति औषधियोंकी पहचान करना और भी आवश्यक हो गया है ताकि रासायनिक औषधि, आसव, अवलेह, चूर्ण तथा वटी आदिका आविष्कार—निर्माण होता रहे। हमारे यहाँ आर्षशास्त्रोंमें जप-पूजा-हवन आदि रोग-निवारक उपाय भी निर्दिष्ट हैं। आज विडम्बना है कि हजारों-लाखों रुपया इलाजमें व्यय हो जाता है, पर आरोग्य-लाभ अत्यल्प ही है। एक रोगके नष्ट कर देनेपर दूसरा रोग उत्पन्न हो जाता है।

उष्ण देशकी औषधि शीत देशमें और शीत देशकी औषधि उष्ण देशमें गुणकारी नहीं हो सकती। अतः भारतवासियोंके लिये भारतीय औषधिका सेवन करना ही अभीष्ट है।

सूर्य प्रत्यक्ष देव हैं, उनकी उपासनासे भी आरोग्य प्राप्त हो सकता है। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्' (मत्स्य०पु०)। जबतक ओज, इन्द्रिय-शक्ति, मानसिक सामर्थ्य बल, शारीरिक शक्ति विद्यमान हैं तबतक आत्मकल्याणके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। कहावत है 'फिर पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गयीं खेत'। अतः मनुष्य-जन्म पाकर अपना कल्याण करना अत्यावश्यक है। सम्पूर्ण रोगोंमें जन्म-मरण महारोग है, उसकी निवृत्तिके लिये भगवच्छरण-गमनके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। अतः हरिकी शरणमें जाकर भजन करो।

हरिः शं ते करिष्यति ।



वास्तविक आरोग्य

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

वास्तविक आरोग्य परमात्मप्राप्तिमें ही है। इसलिये गीतामें परमात्माको ‘अनामय’ कहा गया है—‘जन्मबन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्’ (२।५१)। ‘आमय’ नाम रोगका है। जिसमें किंचिन्मात्र भी किसी प्रकारका रोग अथवा विकार न हो, उसको ‘अनामय’ अर्थात् निर्विकार कहते हैं। जन्म-मरण ही सबसे बड़ा रोग है—‘को दीर्घरोगो भव एव साधो’ (प्रश्नोत्तरी ७)। अनामय-पदकी प्राप्ति होनेपर इन जन्म-मरणरूप रोगका सदाके लिये नाश हो जाता है। इसलिये जो महापुरुष परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो चुके हैं, वही असली नीरोग हैं। उपनिषद्में आया है—

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

(बृहदारण्यक० ४।४।१२)

‘यदि पुरुष आत्माको ‘मैं यह हूँ’ इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके तापसे अनुत्पन्न हो?’

तात्पर्य है कि आत्मा और परमात्मा—दोनों नीरोग (अनामय) हैं। रोग केवल शरीरमें ही आता है। इसलिये कहा गया है—‘शरीरं व्याधिमन्दिरम्’। शरीरमें रोग दो प्रकारसे आते हैं—प्रारब्धसे और कुपथ्यसे। पुराने पापोंका फल भुगतानेके लिये शरीरमें जो रोग पैदा होते हैं, वे ‘प्रारब्धजन्य’ कहलाते हैं। जो रोग निषिद्ध खान-पान, आहार-विहार आदिसे पैदा होते हैं, वे ‘कुपथ्यजन्य’ कहलाते हैं। अतः पथ्यका सेवन करनेसे, संयमपूर्वक रहनेसे और दवाई लेनेसे भी जो रोग मिटता नहीं, उसको ‘प्रारब्धजन्य’ जानना चाहिये। दवाई और पथ्यका सेवन करनेसे जो रोग मिट जाता है, उसको ‘कुपथ्यजन्य’ जानना चाहिये।

कुपथ्यजन्य रोग चार प्रकारके होते हैं—१. साध्य—जो रोग दवाई लेनेसे मिट जाते हैं। २. कृच्छ्रसाध्य—जो रोग कई दिनतक दवाई और पथ्यका विशेषतासे सेवन करनेपर मिटते हैं। ३. याप्य—जो पथ्य आदिका सेवन करनेसे दबे रहते हैं, जडसे नहीं मिटते। ४. असाध्य—जो रोग दवाई

आदिका सेवन करनेपर भी नहीं मिटते। प्रारब्धसे होनेवाला रोग तो असाध्य होता ही है, कुपथ्यसे होनेवाला रोग भी ज्यादा दिन रहनेसे कभी-कभी असाध्य हो जाता है। ऐसे असाध्य रोग प्रायः दवाइयोंसे दूर नहीं होते। किसी संतके आशीर्वादसे, मन्त्रोंके प्रबल अनुष्ठानसे अथवा विशेष पुण्यकर्म करनेसे ऐसे रोग दूर हो सकते हैं।

कुपथ्यजन्य रोगीके असाध्य होनेमें कई कारण हो सकते हैं; जैसे—१. रोग बहुत पुराना हो जाय, २. रोगी कुपथ्यका सेवन कर ले, ३. जिन जड़ी-बूटियोंसे दवाइयाँ बनी हों, वे पुरानी हों, ४. रोगीका वैद्यपर और औषधपर विश्वास न हो, ५. रोगीका खान-पान, आहार-विहार आदिमें संयम न हो, आदि-आदि।

जो रोगी बार-बार तरह-तरहकी दवाइयाँ लेता रहता है, दवाइयोंका अधिक मात्रामें सेवन करता है, उसको दवाइयोंसे विशेष लाभ नहीं होता; क्योंकि दवाइयाँ उसके लिये आहाररूप हो जाती हैं। गाँवोंमें रहनेवाले प्रायः दवाई नहीं लेते, पर कभी वे दवाई लें तो उनपर दवाई बहुत जल्दी असर करती है। जो लोग मदिरा, चाय आदि नशीली वस्तुओंका सेवन करते हैं, उनकी आँतें खराब हो जाती हैं, जिससे उनके शरीरपर दवाइयाँ असर नहीं करतीं। जो व्यक्ति धर्मशास्त्र और आयुर्वेदशास्त्रके विरुद्ध खान-पान, आहार-विहार करता है, उसका कुपथ्यजन्य रोग दवाइयोंका सेवन करनेपर भी दूर नहीं होता।

अधिकतर रोग कुपथ्यसे पैदा होते हैं। कुपथ्यजन्य रोगसे शरीरकी ज्यादा क्षति होती है। कुपथ्यका त्याग और पथ्यका सेवन दवाइयोंसे भी बढ़कर रोग दूर करनेवाला है। इसलिये कहा गया है—

पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।

पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः ॥

(वैद्यजीवनम् १०)

‘पथ्यसे रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन? और पथ्यसे न रहनेपर रोगी व्यक्तिको औषधके सेवनसे क्या प्रयोजन?’ तात्पर्य है कि पथ्यसे रहनेपर रोगी

व्यक्तिका रोग बिना औषध लिये मिट जाता है और पथ्यसे न रहनेपर उसका रोग औषध लेनेपर भी मिटता नहीं।

रोगीके साथ खाने-पीनेसे, रोगीके पात्रमें भोजन करनेसे, रोगीके आसनपर बैठनेसे, रोगीके वस्त्र आदिको काममें लेनेसे तथा व्यभिचार आदिसे ऐसे संकर (मिश्रित) रोग हो जाते हैं, जिनकी पहचान करना बड़ा कठिन हो जाता है। जब रोगकी पहचान ही नहीं होगी तो फिर वैद्यकी दवाई क्या काम करेगी?

युगके प्रभावसे जड़ी-बूटियोंकी शक्ति क्षीण हो गयी है। कई दिव्य जड़ी-बूटियाँ लुप्त हो गयी हैं। दवाइयाँ बनानेवाले ठीक ढंगसे दवाइयाँ नहीं बनाते और पैसोंके लोभमें आकर जिस दवाईमें जो चीज मिलानी चाहिये, उसको न मिलाकर दूसरी सस्ती चीज मिला देते हैं। अतः वह दवाई वैसी गुणकारी नहीं होती।

जो रोगोंके कारण दुःखी रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर करते हैं। परंतु जो भजन-स्मरण करता है, संयमसे रहता है, प्रसन्न रहता है, उसपर रोग ज्यादा असर नहीं करते। चित्तकी प्रसन्नतासे उसके रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रारब्धजन्य रोगके मिटनेमें दवाई तो केवल निमित्तमात्र बनती है। मूलमें तो प्रारब्धकर्म समाप्त होनेसे ही रोग मिटता है। जिन कर्मोंके कारण रोग हुआ है, उन कर्मोंसे बढ़कर कोई पुण्यकर्म, प्रायश्चित्त, मन्त्र आदिका अनुष्ठान किया जाय तो प्रारब्धजन्य रोग मिट जाता है। परंतु इसमें प्रारब्धके बलाबलका प्रभाव पड़ता है अर्थात् प्रारब्धकी अपेक्षा अनुष्ठान प्रबल हो तो रोग मिट जाता है और अनुष्ठानकी अपेक्षा प्रारब्ध प्रबल हो तो रोग नहीं मिटता अथवा थोड़ा ही लाभ होता है।

लोगोंकी ऐसी धारणा बन गयी है कि दवाईके रूपमें मांस, अण्डा, मदिरा आदिका सेवन करना बुरा नहीं है। वास्तवमें यह महान् पतन करनेवाली बात है! ऐसा माननेवाले वे ही लोग होते हैं, जिनका केवल शरीरको ठीक रखनेका, सुख-आरामका ही उद्देश्य है, जिनको धर्मकी अथवा अपना कल्याण करनेकी परवाह नहीं है।

अशुद्ध चीज लेनेसे शरीर ठीक हो जायगा—यह नियम नहीं है, उल्टे नये रोग पैदा हो जायँगे। पशुओंके रोग उनका मांस खानेवालोंमें भी आ जाते हैं। अशुद्ध चीज लेनेसे जो पाप होगा, उसका दण्ड तो भोगना ही पड़ेगा। अतः दवाईके रूपमें भी अशुद्ध चीज नहीं खानी चाहिये। जिसका शरीरमें राग नहीं है, जिसका उद्देश्य अपना कल्याण करना है, वह नाशवान् शरीरके लिये अशुद्ध चीजोंका सेवन करके पाप क्यों करेगा?

अन्न और जल—इन दोनोंके सिवाय मनुष्यमें अन्य किसी चीजका व्यसन नहीं होना चाहिये। जीवित रहनेके लिये अन्न और जल लेना ही पड़ता है, पर चाय, काफी, बीड़ी, सिगरेट, जर्दा, पान-मसाला, तम्बाकू, अफीम, चिलम आदि न ले तो मनुष्य मर नहीं जाता। इन चीजोंको लेनेसे आदत खराब होती है, समय खराब होता है, पैसा खराब होता है, शरीर खराब होता है! दुर्व्यसनोंकी आदत पड़ जाय तो फिर उनको छोड़ना बड़ा कठिन होता है और मनुष्य उनके अधीन हो जाता है। पराधीनको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—‘पराधीन सपनेहुँ सुख नहीँ’ (मानस, बाल० १०२।३)।

गीतामें भगवान्ने ‘आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति-विवर्धनाः’ पदोंसे सात्त्विक भोजनका फल पहले बताया और बादमें भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया। इससे सिद्ध होता है कि सात्त्विक मनुष्य भोजन करनेसे पहले उसके परिणामपर विचार करता है।^१ परंतु राजस मनुष्यकी दृष्टि सबसे पहले भोजनकी तरफ जाती है, उसके परिणामकी तरफ नहीं, इसलिये भगवान्ने पहले राजस भोजनके पदार्थोंका वर्णन किया और बादमें ‘दुःखशोकामयप्रदाः’ पदसे उसका फल बताया।^२ अगर मनुष्य आरम्भमें ही भोजनके परिणामपर विचार करे तो फिर उसको राजस भोजन करनेमें हिचकिचाहट होगी; क्योंकि कोई भी मनुष्य परिणाममें दुःख, शोक और रोगको नहीं चाहता। परंतु भोजनमें आसक्ति होनेके कारण राजस मनुष्यकी बुद्धि परिणामकी तरफ जाती ही

१-आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ (गीता १७।८)

२-कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः । आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ (गीता १७।९)

१-यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् । उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ (गीता १७।१०)

पाँचों इन्द्रियोंको अपने विषयसे पृथक् कर लेना ही प्रत्याहार है। योगी प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर आत्माभिमुखी कर देता है। ऐसे तो हठयोगके परमाचार्य श्रीगोरखनाथजीने 'गोरक्षसंहिता' के दूसरे शतकमें

हठयोगका परम लक्ष्य कुण्डलिनी-जागरणद्वारा षट्चक्रभेदन तथा कैवल्यकी प्राप्ति है। कुण्डलिनी हमारे मूलाधारमें अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध-रूपमें स्थित है। यद्यपि देहमें स्थित कुण्डलिनी स्वभावसे चेतन है तथापि प्रबुद्ध न होनेकी अवस्थातक जीवात्माको सांसारिक द्वन्द्वोंमें विमोहित करनेके कारण बन्धनकारिणी है। जबतक वह सुप्त है, तबतक जन्म-मरणका फल देती है और जागनेपर सहस्रदलतक सञ्चार करती हुई योगियोंको उनके शुद्ध व्यापक आत्माके स्वरूपका ज्ञान करा देती है। गुदासे दो अङ्गुल ऊपर और लिङ्गसे दो अङ्गुल नीचे मूलाधारचक्रके बीच त्रिकोणके आधारके योनिकामपीठके मध्य शिवलिङ्गको

साढ़े तीन वलयोंमें लपेटकर नीचेकी ओर मुख करके विद्युत् प्रभाके समान चमकती हुई सुषुम्णाके मार्गको रोककर कुण्डलिनी स्थित है। अपानवायुके निकुञ्चनसे उसका उत्थान किया जाता है, वह सुषुम्णाके द्वारको छोड़ देती है। इसका उत्थान मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्धके अभ्याससे किया जाता है। वह ऊर्ध्वमुखी होकर षट्चक्रभेदन करती हुई सहस्रारमें पहुँच जाती है। मूलाधारमें ब्रह्मचक्र है। इसमें अग्निके समान दीप्ति-शक्तिका ध्यान करनेसे कुण्डलिनी जाग जाती है। इसके बाद स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रका भेदन करती हुई सहस्रारमें पहुँच जाती है। सहस्रारसे स्नावित चन्द्रामृतका पान करनेमें योगी इसी समय प्रवृत्त होता है। ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचकर कुण्डलिनी शिवसे मिल जाती है अर्थात् अन्तर्भूत हो जाती है। चन्द्रमाके द्वारपर सूर्यका स्थित होना, जीवात्माका शिव-पदमें अभिन्न होना हठयोगका परम लक्ष्य है। यही हठयोगकी सिद्धि है, जिसे राजयोग-समाधिका सहज फल स्वीकार किया जाता है। यही उन्मनी सहजावस्था है, अमनस्कताके धरातलपर जीवात्मा और

परमात्माकी अभेदता है।

आज सारे संसारके मानव शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक निश्चिन्त-अवस्थाकी प्राप्तिके लिये उद्विग्न हैं। वे शारीरिक समस्याको सुलझानेके लिये भारतकी योगसाधना-पद्धतिसे प्रेरणा ग्रहण करनेके लिये समुत्सुक हैं। हठयोगकी साधना सर्वाङ्गपूर्ण योगसाधना है। यह निर्विवाद है कि हठयोगके विभिन्न अङ्गोंकी साधनाके द्वारा जगत्के लोग स्वास्थ्य-समस्याका समाधान प्राप्त कर सकते हैं। ये अपने शरीरको नीरोग और मनको शान्त तथा स्थिर करनेके लिये भगवान् शिवद्वारा उपदिष्ट तथा महर्षि पतञ्जलिद्वारा अनुशासित और महायोगी गोरखनाथ तथा उनके अनुवर्ती नाथसिद्धोंद्वारा आचरित और उपदिष्ट योग—विशेषतया हठयोगको ग्रहण करके लोककल्याण तथा आत्मोद्धारके प्रयत्नमें सफल हो सकते हैं। हठयोगके शास्त्र-वर्णित साधना-क्रमसे अभ्यास करनेसे आजके जगत्में योगके सम्बन्धमें प्रचलित गलत धारणाओं और मनमानी मिथ्या विचारोंका निराकरण हो सकता है। मानवके शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक जागरणमें हठयोगकी महनीयता पूर्णरूपसे स्पष्ट है।



‘संसारव्याधिभेषजम्’

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।

आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥

(ऋग्वेद ८।१८।१०)

‘हे दृढव्रती देवगणो (आदित्यासः) ! हमारे रोगोंका निवारण कीजिये। हमारी दुर्मति तथा पापोंको दूर हटा दीजिये।’

आदित्य—सूर्यकी आराधनासे अखण्ड प्राकृतिक नियम-पालनकी प्रेरणा मिलती है। नियम-पालनसे स्वास्थ्य स्थिर रहता है। स्थिर स्वास्थ्यसे बुद्धि परिष्कृत होती है और सुसंस्कृत बुद्धि प्रभुस्मरण—जैसे जीवनके शाश्वत सिद्धान्तोंकी ओर मानवको उन्मुख करती है।

वेदोंकी अनेक सूक्तियाँ स्वस्थ जीवनकी उपादेयताका प्रतिपादन करती हैं। ‘विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्’ (यजुर्वेद १६।४८)। ग्रामके सभी प्राणी रोगरहित और हृष्ट-पुष्ट हों।

अथर्ववेदीय पैप्पलादशाखाके मन्त्रद्रष्टा ऋषि दीर्घायुष्य-सूक्तके माध्यमसे देवों, ऋषियों, गन्धर्वों, दिशाओं, औषधियों तथा सरिता-सागर आदिसे दीर्घ आयुकी कामना करते हैं—
‘दीर्घमायुः कृणोतु मे।’

अथर्ववेदके चतुर्थकाण्डका १३वाँ तथा ऋग्वेदके दशम मण्डलका १३७ वाँ सूक्त रोगनिवारण-सूक्तके नामसे प्रसिद्ध है।

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।

त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥

(अथर्व० ४।१३)

‘हे देवो ! इस रोगीकी रक्षा कीजिये। हे मरुतोंके समूहो ! रक्षा करो। सब प्राणी रक्षा करें। जिससे यह रोगी नीरोग—पूर्ण स्वस्थ हो जाय।’

वेद इस मानव-शरीरका अति पल्लवित वर्णन करता है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च
देवौ॥ (यजु० ३४।५५)

भावार्थ है कि 'सातों ऋषि अहर्निश इस शरीररूपी पवित्र आश्रमका संरक्षण कर रहे हैं।'

यह शरीर सप्त सरिताओंका पवित्र तीर्थस्थल है, जो जाग्रदवस्थामें बाहर जाता है और सुप्तावस्थामें वापस आता है। यह शरीर पवित्र यज्ञशाला है, जिसके लिये दो देव दिन-रात सन्नद्ध हैं।

साथ ही यह शरीर देवालय है, यहाँ सूर्य चक्षुओंमें ज्योति बनकर, वायु छातीमें प्राण बनकर, अग्नि मुखमें वाणीरूप बनकर तथा उदरमें जठराग्नि बनकर एवं तैत्तिरीय देवता अंशरूपमें आकर निवास करते हैं। पञ्चभूतोंसे एक पुरुषाकृतिका निर्माण कर ईश्वरने उसे क्षुधा-पिपासासे अभिभूत कर दिया, तब इन्द्रियाभिमानि देवताओंने परमेश्वरसे कहा कि हमारे योग्य स्थान बतायें, जिसमें बैठकर हम अपने भोज्य-पदार्थ अन्नका भक्षण कर सकें। देवताओंके इस आग्रहपर जलसे गौ और अश्वके आकारयुक्त एक पिण्ड बाहर आया। पर देवताओंने यह कहकर ठुकरा दिया कि यह हमारे आश्रयके अनुरूप नहीं है। अन्तमें जब मानव-शरीर आया तब सभी देव प्रसन्न हो गये। परमेश्वरने कहा—'ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति' अपने योग्य आश्रय स्थानोंमें तुम लोग प्रवेश करो। इसपर 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशददित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्विशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्रं प्राविशन्'॥

(ऐतरेयोपनिषद् १।२।४)

अग्नि वाणी होकर मुखमें, वायु प्राण होकर नासिका-छिद्रमें, सूर्य प्रकाश बनकर नेत्रोंमें, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कानोंमें, औषधियाँ और वनस्पति लोम होकर त्वचामें, चन्द्रमा मन होकर हृदयमें, मृत्यु अपान होकर नाभिमें और जल देवता वीर्य होकर शिशनेन्द्रियमें प्रविष्ट हुए।

उपनिषद्का उक्त कथानक मानव-शरीरको देवालय होनेकी पुष्टि करता है। सम्भवतः इस कथानकको भौतिकवादी ऐहिक कौशलमें कुशल दम्भी-मस्तिष्क एकमात्र कपोल-कल्पना ही समझें, पर यह अति परिष्कृत वैज्ञानिक

दृष्टिकोण है, विषयान्तर न हो इसीलिये मात्र एक उदाहरण 'चन्द्रमा मन होकर हृदयमें प्रविष्ट हुए हैं' इसीको संक्षेपमें विवृत किया जा रहा है—चन्द्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मन्त्रोंमें भी इसका संकेत मिलता है। चन्द्रमामें मातृवृत्ति है। फिर कलावान् तो वे हैं ही, इसलिये सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोंको पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर माताके हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भतक उस जीवनामृतको पहुँचानेका प्रेमल और कुशल कार्य निरन्तर करते रहते हैं। इतना ही नहीं ओषधियोंका जो अमृतत्व है, वह सोमसे ही प्राप्त होता है। वे ओषधियोंके अधिपति कहे गये हैं।

सामान्य रूपसे यह मानव-शरीर दो भागोंमें विभक्त है—आभ्यन्तर और बाह्य। 'नर तन सम नहि कवनिउ देही'। कहे जानेवाले देव-दुर्लभ शरीरकी उपेक्षा निःसंदेह अविवेकपूर्ण है, रोगोंका उपचार स्वस्थ जीवनहेतु अनिवार्य है, परंतु केवल बाह्य शरीरके रक्षार्थ किया गया उद्योग एकाङ्गी होगा। सर्वाङ्गीण परिश्रम ही संस्कृत बुद्धिकी पहचान है। अतः मानसिक रोगका उपचार किये बिना शारीरिक रोग दूर नहीं होंगे।

यह अतार्किक सिद्धान्त है कि जगत्-नियन्ता प्रत्येक सत्कर्मपर पुरस्कार और दुष्कर्मपर दण्ड देता है तथा मानसिक अशुभ कर्मका दण्ड शरीरको भोगना पड़ता है।

शतशः श्रुतियाँ इस सिद्धान्तको घोषित कर रही हैं कि सृष्टिका मूलतत्त्व रसरूपता 'रसो वै सः' या आनन्दरूपता है। शास्त्रोंमें आनन्दके दो स्वरूप वर्णित हैं—१-शान्त्यानन्द और २-समृद्ध्यानन्द। प्रथमका सम्बन्ध अन्तर्मनसे है और दूसरेका बाह्य शरीरसे। मूल विषय मनका उपचार है। संत तुकारामने कहा है—'मन कर प्रसन्न सर्व सिद्धिचे कारण' मनको प्रसन्न रखो वही सब सिद्धियोंका मूल है। सुश्रुतसंहिता भी इस बातका प्रतिपादक है।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(१५।४१)

त्रिदोषों, त्रयोदश अग्नियों और धातु-प्रक्रियाकी समता तथा आत्मा, इन्द्रिय और मनकी प्रसन्नता स्वास्थ्यका द्योतक है। मानसिक रोग जो विश्वका संक्रामक रोग बन गया है, उसका उपचार ही शारीरिक स्वस्थताकी प्रमुख शर्त है।

मानसिक रोगकी सर्वश्रेष्ठ ओषधि है—‘भगवन्नाम-स्मरण।’

श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

(६।२०)

अर्थात् यदि मानव (विज्ञान) व्यापक अमूर्त आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेटनेमें भी समर्थ हो जाय (जो असम्भव है) तो भी परमात्मतत्त्वके ज्ञानके बिना उसके कष्टोंका अन्त असम्भव है।

मानस-रोगोंके वर्णनके पश्चात् गोस्वामीजी कहते हैं—
 ‘भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान ॥’ अतः ‘बारि
 मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव
 तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥’ (रा०च०मा० ७। १२१ (ख),
 १२२ (क))

शास्त्रीय भाषामें पञ्चभूतात्मक योग-गुणोंका अनुभव (भगवन्नाम-जपद्वारा आत्मानुभूति) जिसे हो जाता है, उसे न रोग सताता है, न वृद्धावस्था और न असमय मृत्यु । पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

(श्वेता०उप० २।१२)

‘गोविन्दामोदरस्तोत्र’ के रचयिता श्रीबिल्वमङ्गलाचार्यजीने त्रयताप-निवारणहेतु (दैहिक, दैविक, भौतिक) वेदवेत्ता विद्वानोंद्वारा निर्दिष्ट इसी नाम-रूपी चिकित्सककी ओर ध्यान आकृष्ट किया है—

आत्यन्तिकव्याधिहरं जनानां चिकित्सकं वेदविदो वदन्ति ।
संसारतापत्रयनाशबीजं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

हे कृष्ण! हिलते हुए पत्तेकी नोकपर अटकी हुई
बूँदके समान क्षणभंगुर यह शरीर इसी समय आपके
चरणरूपी पिंजरोंमें राजहंसकी तरह प्रविष्ट हो जाय; क्योंकि
मरते समय वात, पित्त और कफद्वारा कण्ठावरोध हो
जानेसे नाम-स्मरण भी असम्भव हो जायगा—

कृष्ण त्वदीयपदपंकजपञ्जरान्ते

अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः

कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कृतस्ते ॥

(प्रपन्नगीता ५३)

कृष्ण-मिलनकी विरहजन्य पीडासे अधीर होकर मीराके मानसिक रोगका चिकित्सक भी तो साँवरिया ही था न! 'मीरा की मन पीर मिटे जब वैद संवरिया होय'।

सूरकी इस चेतावनीकी अनदेखी कहीं सिर धुननेको विवश न कर दे?

कहा भयो अबके मन सोचे पहिले नाहि कमायो।

सूरदास हरिनाम-भजन बिनु सिर धुनि-धुनि पछतायो ॥

गुरु नानकदेव प्रभु-नाम-श्रवणसे कष्ट दूर होनेकी घोषणा करते हैं—

सुणिए ईसरु बरमा इन्दु । सुणिए मुखि सालाहण मन्दु ।
सुणिए जोग जुगति तनि भेद । सुणिए सासत सिम्रिति वेद ।
नानक भगता सदा विगासु । सुणिए दूख पाप का नासु ॥
(श्रीजपुजी साहब ९)

अगर व्यक्ति नियमित भगवत्-नाम-स्मरण कर रहा है और देहावसानके अन्तिम क्षणोंमें भगवत्-चिन्तनमें असमर्थ हो जाता है तब भी भगवान्‌की असीम अपरिमित अनुकम्पा देखिये—

स्थिरे मनसि सुखस्थे शरीरे सति यो नरः ।

धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपं च मां भजन् ॥

ततस्तं प्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम् ।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

(वराहपुराणका खिलांश)

भगवती वसुन्धराके पूछनेपर भगवान् वराह कहते हैं—‘जो मेरा भक्त स्वस्थावस्थामें निरन्तर मेरा स्मरण करता रहता है, उसे मरते समय जब चेतना नहीं रहती और वह सूखे काष्ठ-पाषाणकी भाँति पड़ा रहकर मेरा चिन्तन करनेमें असमर्थ हो जाता है तो मैं उसका स्मरण करता हूँ और उसे परमगति—मुक्तिकी ओर ले जाता हूँ।’

मानसिक और शारीरिक रोगोंसे ग्रस्त हो जानेपर नैराश्यपूर्ण भावनाका परित्याग कर आजहीसे उस 'आयुष्यमारोग्यकरं कल्पकोट्यधनाशनम्' वैद्यकी शरण ग्रहण कर संसाररूप रोगके लिये सिद्ध औषधका सेवन कीजिये और इहलोकमें स्वस्थ रहकर परलोकके लिये पाथेय भी साथ ले जाइये। ये पाथेय हैं दो अक्षर 'हरि'—

प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम् ।

दुःखक्लेशपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥



‘जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका’

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज रामायणी)

जगद्वन्द्व सूक्ष्म द्रष्टा महाकवि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने सच्छास्त्रोंके अनेक अङ्गोंका स्पर्श किया है। जीवनकी अनेक समस्याओंका समाधान किया है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका यह स्पर्श, यह समाधान कहीं विस्तारसे है तो कहीं संक्षेपसे, रोगोंका अत्यन्त संक्षिप्त परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णन श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें है।

श्रीकाकभुशुण्डिजी श्रीरामभक्तिचिन्तामणिका निरूपण करते हुए कहते हैं कि यह मणि जिस भाग्यवान्‌के हृदयमें निवास करती है, उसे प्रबल मानसरोग नहीं व्याप्त होते—

ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी ॥

(७। १२०। ८)

श्रीकाकभुशुण्डिजीके इस उपदेशको हृदयङ्गम करनेके लिये श्रीगरुड़जी प्रश्न करते हैं—हे सर्वज्ञ! हे कृपालो! मानसरोग विलक्षण रोग है। अन्य प्राकृत रोगोंका परिज्ञान तो बाह्य लक्षणोंसे भी सम्भव है; परंतु मानसरोगका परिज्ञान बाह्य लक्षणोंसे कथमपि सम्भव नहीं है। रोगका लक्षण और उसके स्वरूपका विशेष ज्ञान परमावश्यक है, अन्यथा रोग-चिकित्सा सम्भव नहीं है। रोगकी चिकित्सा होनी ही चाहिये। इसलिये श्रीगरुड़जी श्रीकाकभुशुण्डिजीसे कहते हैं कि आप अत्यन्त सूक्ष्म मानसरोगोंको समझाकर कहिये—उसका भलीभाँति परिज्ञान कराइये—

मानस रोग कहह समझाई । तुम्ह सबग्य कृपा अधिकाई ॥

(रा०च०मा० ७। १२१। ७)

विनतानन्दन श्रीगरुडके अत्यन्त प्रष्टव्य प्रश्नका उत्तर श्रीकाकभुशुण्डिजीने चौबीस पंक्तियोंमें दिया है। अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर है; परन्तु सर्वाङ्गपरिपूर्ण है। उसका एक-एक शब्द मननीय है—

सुनहु तात अब मानस रोगा ।बिषय आस दुर्बलता गई ॥

(रा०च०मा० ७। १२१। २७, १२२। १०)

श्रीकाकभुशुण्डजी कहते हैं कि प्राकृत रोगोंसे—
कायिक रोगोंसे प्रत्येक प्राणी पीडित नहीं होते हैं, उन
रोगोंके रोगी सब नहीं होते हैं; परंतु मानसरोगके रोगी तो

प्रायः सभी होते हैं। यह मानसरोग इतना प्रबल है कि इसने सभीको आक्रान्त कर लिया है। ‘जिन्ह दे दुख पावहिं सब लोग्ग’ और ‘एहि बिधि सकल जीव जग रोगी’।

इन चौबीस पंक्तियोंमेंसे मात्र आधी पंक्तिकी संक्षिप्त व्याख्या यथामति यथासमय प्रस्तुत की जा रही है। इसी निदर्शन—उदाहरणसे समस्त पंक्तियोंकी गम्भीरता सुधीजन समझें।

‘जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका’ भौतिक ज्वरकी भाँति आध्यात्मिक ज्वर भी अनेक प्रकारके हैं, जैसे यौवन-ज्वर, काम-ज्वर, लोभ-ज्वर और मोह-ज्वर आदि।

‘ज्वर’ शब्दका अर्थ है—‘ज्वरति जीर्णो भवत्यनेनेति ज्वरः’ संतापार्थक ‘ज्वर’ धातुसे करणमें किंवा भावमें ‘घञ्’ प्रत्यय करनेसे ‘ज्वर’ शब्द निष्पन्न होता है। ज्वरके सामान्य लक्षण हैं—शरीरमें ईषत्कम्प, अङ्ग-शैथिल्य, मुखका परिशुष्क होना, शरीरका रोमाञ्चकण्टकित होना, शक्तिकी क्षीणता, स्वेदावरोध और देहमें दाह—जलनका होना—ये समस्त लक्षण प्रायः युगपत्—एक साथ शरीरमें प्रकट होते हैं—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।

युगपद् यत्र रोगे तु स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥

महाभारतके युद्धारम्भमें जब श्रीअर्जुन मोहग्रस्त हो जाते हैं, तब उनके शरीरमें उपर्युक्त समस्त लक्षण युगपत् प्रकट हो जाते हैं—

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

(गीता १। २९, ३०)

अपने परम हितैषी सखा ब्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे श्रीअर्जुन कहते हैं—हे केशव! इस कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें जो लोग समवेत हैं, उन सबको मैंने भलीभाँति देख लिया है। ये सब लोग तो मेरे स्वजन ही हैं। यद्यपि ये समस्त लोग युद्ध करनेके लिये ही समराङ्गणमें

उपस्थित हैं; परंतु मेरा इनसे युद्ध करनेके लिये कटिबद्ध होना कहाँतक उचित है ? मेरा मन और बुद्धि—ये दोनों ही चकराने लगे हैं। हे माधव ! मेरा शरीर थर-थर काँप रहा है, मेरा मुख परिशुष्क हो रहा है और मेरी देह मानो गली-सी जा रही है। मेरा समस्त अङ्ग रोमाञ्चकण्टकित हो रहा है, मेरे अन्तःकरणमें महती व्यथा हो रही है, एतावता गाण्डीव धनुष धारण करनेवाली मेरी मुट्ठी शिथिल हो रही है। हे श्रीकृष्णचन्द्र ! यह गाण्डीव मेरे हाथसे छूट भी गया। यह मेरा वज्रादपि कठोर गाण्डीव, असह्य और भयंकर है; परंतु इस बन्धु-स्नेहजन्य मोहकी अद्भुत शक्ति, उस प्रचण्ड गाण्डीवकी शक्तिसे भी बढ़कर सिद्ध हो गयी है।

जिन वीरपुङ्गव श्रीअर्जुनने समराङ्गणमें किरातवेषधारी महाभयंकर प्रलयङ्कर श्रीशङ्करको भी युद्धमें प्रसन्न करके उनसे पाशुपतास्त्रकी उपलब्धि की थी, उन्हीं गाण्डीवधारी अर्जुनको इस मोहज्वर नामक मानसरोगने देखते-देखते अधिकृत कर लिया—जीत लिया। श्रीअर्जुनने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—हे करुणामय! मेरी त्वचा जल रही है। मैं खड़ा रहनेमें भी स्वयंको असमर्थ पा रहा हूँ। मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो रहा है।

अपने अनन्य भक्त श्रीअर्जुनके ऊपर अपार करुणा करके महान् मानसरोग—मोहज्वरके निवारण करनेमें परम समर्थ वैद्य गीताचार्य श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीगीताजीके सत्रह अध्यायोंके उपदेशका महौषध पान कराया और अन्तमें प्रश्न किया—हे पृथानन्दन! आपने मेरे द्वारा उपदिष्ट उपदेशको क्या समाहितचित्तसे श्रवण किया है? हे धनञ्जय! क्या इस महान् उपदेशामृत महौषधसे आपका अज्ञानजन्य मोहज्वर विनष्ट हो गया है?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।

कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥

(गीता १८।७२)

करुणामय ठाकुरजीके इस करुणामय प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीअर्जुनजी कहते हैं—हे अच्युत! आपके महान् उपदेशरूप महौषधने मेरे मोहज्वरका विनाश कर दिया है। हे स्वामिन्! आपकी मङ्गलमयी कृपासे यथार्थ तत्त्वज्ञानरूपी स्मृति भी मैंने उपलब्ध कर ली है अर्थात् सम्मोहज्वरके

द्वारा क्षीणशक्तिको भी मैंने पुनः सञ्चित कर लिया है। एतावता सम्प्रति बन्धुस्नेहकारुण्य प्रवृद्ध सम्पूर्ण शोकसे विमुक्त होकर मैं सर्वथा असन्दिग्ध होकर स्वस्थभावमें स्थित हूँ। हे करुणामय! अब मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा—युद्धादि कर्म करूँगा।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८। ७३)

इस प्रकार सम्मोहज्वरकी भाँति अनेक ज्वर—
आध्यात्मिक ज्वर शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनमें भी श्रीगोस्वामीजी
कहते हैं कि ‘मत्सरज्वर’ और ‘अविवेकज्वर’ अतिशय
प्रबल हैं।

मत्सरज्वर—दूसरोंकी सम्पत्तिको किंवा सम्मानको देखकर मनमें जो जलन होती है, उसे ही 'मत्सर' कहते हैं। 'असह्यपरसम्पत्तिः मत्सरः'। ज्वरकी भाँति इसमें भी मनमें दाह होता है। 'पद्मपुराण'के अनुसार 'आत्मधिककार-विशेषः मत्सरः' है अर्थात् दूसरोंकी वृद्धि देखकर अपनेको धिक्कृत करना ही, हीनभावनासे ग्रस्त होनेका नाम ही 'मत्सर' है—

निन्दति मां सदा लोका धिगस्तु मम जीवनम्।

इत्यात्मनि भवेद् यस्तु धिक्कारः स च मत्सरः ॥

(पद्मपु० क्रिया० अ० १६)

अविवेकज्वर—नीतिकार कहते हैं—यौवन, धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेकिता—इन चारोंमें एक-एक अवगुण अनर्थकारी हैं। फिर यदि ये चारों ही युगपत्—एक साथ समवेत होकर एक ही पुरुषमें आ जायँ तो क्या कहना है?

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।

एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

(हितोपदेश)

शास्त्रोंमें विवेककी अनेक प्रकारकी परिभाषायें हैं—
(१) आपसमें मिलकर एक ही वस्तु-विषयका अनेक प्रकारसे विचार करके उस वस्तु-विषयके स्वरूपका निश्चय करना विवेक है। ‘परस्परव्यावृत्त्या वस्तुस्वरूपनिश्चयः विवेकः’। (२) प्रकृति और पुरुषका सम्यक् प्रकारेण विवेचन करके उनका परिज्ञान करना ही विवेक है।

प्रसंगोंको दूर रखकर उनके द्वारा निर्मित साहित्यका भी विचार किया जाय तो मन आश्चर्यमें डूब जाता है। संत श्रीज्ञानेश्वरजी महाराजसे कृपा-प्राप्त इन महात्माने जो उपदेश किया, उसमेंसे केवल एक-तिहाई अंश ही उस समय लिपिबद्ध हो पाया और यह एक तृतीयांश साहित्य भी एक सौ तीस ग्रन्थोंसे अधिक है तथा वेदोंसे लेकर आधुनिकतम विज्ञानतक लगभग सभी विषयोंका गहन प्रतिपादन तथा बेजोड़ समीक्षा उसमें उपलब्ध होती है। आर्य ऋषियोंके समस्त सिद्धान्त सर्वथा सत्य हैं—इसे बद्धिनिष्ठ तर्कोंसे प्रमाणित किया जाय, यही

श्रीमहाराजके सम्पूर्ण वाङ्मय-निर्माणकी एकमात्र प्रेरणा तथा प्रतिज्ञा है।

योग, वेदान्त, दर्शनशास्त्र, भक्तिशास्त्र तथा संगीत आदि अनेक विषयोंके समान श्रीमहाराजने आयुर्वेदमें भी मौलिक लेखनका सूत्रपात किया है। उनके मानसायुर्वेद, भिषगीन्द्रशचीप्रभा, वैद्यनन्दिनी, वैद्यवृन्दावन, भिषक्पाटव—जैसे लघु ग्रन्थोंसे इस विषयके गहन ज्ञानका अनुमान किया जा सकता है। दैववशात् ये ग्रन्थ पूर्ण नहीं हो पाये, किंतु सम्प्रति जो उपलब्ध हैं वे भी आरोग्यप्राप्ति तथा रोग-चिकित्सामें सर्वथा नूतन दृष्टि प्रदान करनेमें समर्थ हैं। श्रीमहाराजके संस्कृत और मराठी भाषामें किये गये आयुर्वेदविषयक मार्गदर्शनका सार प्रस्तुत करनेका यहाँ प्रयास किया गया है—

श्रीमहाराजकी आयुर्वेदविषयक ग्रन्थ-रचना केवल व्याधि ठीक करनेके लिये ही नहीं, अपितु पामर-विषयी-मुमुक्षु तथा सिद्ध—इन सभीको स्वास्थ्य लाभ होकर यथाक्रम चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सके—यह दृष्टि रखते हुए हुई है। पारमार्थिक साधकके लिये भी शरीर नीरोग तथा मन स्वस्थ रखना आवश्यक है। उत्तम स्वास्थ्य परमार्थ-साधनाका भी महत्त्वपूर्ण सोपान है, इसलिये यह विषय धार्मिक लोगोंके लिये भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आयुर्वेदके अनुसार व्याधि-चिकित्साके दो अङ्ग हैं—‘रोगानुत्पादनीय’ अर्थात् व्याधि हो ही नहीं इसलिये प्रयास किया जाय और ‘रोगनिवर्तनीय’ अर्थात् व्याधि उत्पन्न होनेपर उसे दूर करनेका प्रयास किया जाय। इनमें आयुर्वेदकी दृष्टिसे प्रथम अङ्गका महत्त्व अधिक है। दैनन्दिन जीवन-व्यवहारकी रचना ही ऐसी हो कि रोग हो ही नहीं। इस अङ्गकी ओर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। रोगका प्रादुर्भाव हो ही नहीं, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि रोगोंका मूल कारण क्या है?

श्रीमहाराजने प्राचीन ग्रन्थोंका प्रमाण देते हुए प्रतिपादन किया है कि रोगोंका मूल कारण चित्त-विकार अथवा अशुद्ध-चित्त है। अशुद्ध चित्तके तीव्र संवेगसे दोष प्रादुर्भूत होते हैं और दूषित चित्त रोगोंका मूल कारण है—

तीव्ररागाद् भवेद् वातो द्वेषात् पित्तं प्रजायते।

कफः संजायते मोहात् तमसोऽपि जडः स्मृतः॥

अतश्चित्तमशुद्धं हि तीव्रं चेद् दोषतामियात्।

रागादिदूषितं चित्तं गदजालं तनोति हि॥

(मानसायुर्वेद)

अर्थात् आसक्तिके तीव्र संवेगसे वात, द्वेषके तीव्र संवेगसे पित्त और मोहके तीव्र संवेगसे कफ दूषित हो जाता है। तमके तीव्र संवेगसे जडताका उत्पन्न होना बतलाया गया है। जब जडता उत्पन्न हो जाती है, तब चित्तमें अशुद्धि आ जाती है। राग आदिसे दूषित चित्त अनेक रोगोंका कारण बन जाता है।

‘कामशोकभयाद् वायुः। क्रोधात् पित्तम्०’ ऐसा कहकर माधवनिदानकार भी इसीका प्रतिपादन करते हैं।

रोग तीन प्रकारके होते हैं—कर्मज, दोषज तथा उभयज। कर्मज वे हैं जो अयोग्य कर्मसे उत्पन्न होते हैं। दोषज वे हैं जो त्रिदोषोंसे उत्पन्न होते हैं और दोनोंसे उत्पन्न उभयज कहलाते हैं। कर्मज रोग औषधिसे नहीं, जप-तप-अनुष्ठानादि कर्मोंसे दूर होते हैं। दोषज रोग औषधिसे ठीक होते हैं और उभयज रोग औषधिसे दबते हैं, किंतु फिर प्रादुर्भूत होते हैं तथा औषधिके साथ-साथ जप-तप-दान आदिसे नष्ट होते हैं।

जिससे पीडा होती है, वे सभी रोग कहे जा सकते हैं। इन रोगोंके फिर चार प्रकार होते हैं—(१) शारीरिक, (२) मानसिक, (३) आगन्तुक तथा (४) स्वाभाविक। शरीरको होनेवाले शारीरिक, मनको होनेवाले मानसोन्माद (हिस्टीरिया) तथा काम, क्रोध और शोक आदि मानसिक कहे जाते हैं। आगन्तुक यानी दैवी दुर्घटना—जैसे बिजली गिरना आदि है। भूख-प्यास आदि जन्मसे ही रोज अनुभूत पीडाएँ स्वाभाविक हैं। शरीर-रोग औषधिसे दूर होते हैं। मानसरोग धैर्यसे अथवा उत्तम धर्मपालनसे दूर होते हैं। आगन्तुक रोग दैवी शान्ति तथा औषधिसे दूर होते हैं।

आयुर्वेदमें त्रिदोषका विचार है। वह महत्त्वपूर्ण भी है, किंतु आयुर्वेदने प्रायः बहुतसे रोगोंका कारण त्रिदोष है ऐसा कहनेपर भी सभी रोगोंका कारण त्रिदोष नहीं कहा है। मुख्यतया मनोविकृतिको सभी रोगोंका कारण कहा है। दोष

कर्मोंसे नियन्त्रित होते हैं तथा गलत कर्मका कारण प्रज्ञापराध है—ऐसा वृद्ध वाग्भट्टके भूतोन्माद प्रकरणमें कहा गया है। चरकाचार्यजीने जनपदोर्ध्वंसनीय नामक तृतीयाध्यायमें यही संकेत किया है। मनोविकारोंसे ही त्रिदोषोत्पत्ति कही है। त्रिदोषोंसे मनोविकारोंका प्रादुर्भाव नहीं कहा है।

काम शोकभयाद् वायुः क्रोधात् पित्तं त्रयो मलाः ।

ऐसा माधवनिदानकारने स्पष्ट कहा है। वाग्भटने भी—
रागादिरोगान् सततानुषक्ता-

नशेषकायप्रसृतानशेषान् ।

औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान

योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

—इस अपने मङ्गलाचरणमें सभी रोगोंका कारण मनोविकार ही है, यह स्पष्ट-रूपसे मान्य किया है।

श्रीमहाराजकी दृष्टिसे आयुर्वेदने रोगोंका मूल कारण जन्तु (कीटाणु) नहीं माना है, अपितु मनोविकारोंके कारण रोगके कीटाणुओंका प्रादुर्भाव माना है। कीटाणु रोगका कारण नहीं, लक्षण हैं। मुख्यतया पहले विभिन्न सूक्ष्म मनोविकारोंके कारण इन कीटाणुओंका निर्माण होता है और वे रोगके सहकारी कारण बनकर व्याधिको प्रकट तथा वृद्धिगत करते रहते हैं। सभी रोगोंका मूल कारण तो अशुद्ध चित्त ही है।

इसीलिये व्याधि-चिकित्सामें सर्वप्रथम व्याधिका निर्माण ही न हो इसलिये चित्तको शुद्ध रखना सर्वाधिक आवश्यक है। चित्त काम-क्रोध-भय-शोक तथा मत्सर आदि विकारोंसे सर्वथा मुक्त रहे तो व्याधिका प्रादुर्भाव ही न हो। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन यदि धार्मिक, सदाचार-सम्पन्न होगा तो आरोग्य तथा दीर्घ आयुका लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

इसीलिये महाराज अपनी मानसायुर्वेद-संहितामें कहते हैं—

सर्वेषामेव रोगाणामधर्मं कारणं महत् ।

आरोग्यकारको धर्मो वैद्यशास्त्रेऽपि बोधितः ॥

तथा

प्रसन्नचेतसः सौख्यमारोग्यं च भवेत् सदा ।

अप्रसन्नस्य चित्तस्य रोगाः सर्वे भवन्ति हि॥

सदाचारसम्पन्न शान्त मन ही सभी ज्वरोंके नाश करनेका सही उपाय है यही वाग्भटाचार्य कहते हैं—

करुणार्द्रं मनः शुद्धं सर्वज्वरविनाशनम् ।

(अष्टाङ्गहृदय चिकित्सा-स्थान)

रोग-चिकित्सा में औषधियों का लाभ भी इसी कारणसे होता है कि औषधियों में चन्द्रमासे रस आता है। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।

और चन्द्रमाका आविर्भाव भी समष्टि मनसे ही हुआ है—

चन्द्रमा मनसो जातः ।

(पुरुषसूक्त)

तात्पर्य यह कि समष्टि मनसे उद्भूत चन्द्रमासे प्राप्त रस ओषधियोंमें आकर औषधिके माध्यमसे व्यष्टि मनपर अनुकूल परिणाम करके सूक्ष्म मनोदोषोंका निवारण करते हुए ही स्थूल रोगका निवारण करता है। सत्त्वगुणसम्पन्न मनमेंसे यह सोमप्रवाह रोगीको अमृतमय करके रोगमुक्त करता है। इसी कारण वाग्भटने जितेन्द्रिय, क्रोधरहित, सत्यवादी धार्मिक पुरुषको 'रसायन' यानी सभी व्याधियोंका निवारणकर्ता कहा है—

सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।

सद्वृत्तनिरतं शान्तं विद्यानित्यं रसायनम् ॥

स्पष्ट है कि धर्मसम्पन्न सदाचारी जीवन तथा संत-संगतिसे व्याधियोंका समूल नाश होना सम्भव है।

ये सभी विचार इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं कि भौतिकताकी चकाचौंधमें विषयोंके पीछे पागल होकर सुख चाहनेवालोंका भ्रम मिट जाय और धर्माचरण, भगवद्भक्ति तथा सत्संगतिकी महत्ताका आकलन हो जाय तो सभीका परम कल्याण होगा। आर्य वैद्यकशास्त्र ईश्वरनिष्ठा तथा आध्यात्मिक नींवपर खड़ा है और इसीके स्वीकारसे सभीका ऐहिक तथा पारमार्थिक पूर्ण हित होना सम्भव है। एक महत्त्वपूर्ण विषयका यह स्वल्प परिचयमात्र है।

